H.D. 2
ाशका
विनाश
मामा वरेरकर

सत्साहित्य-प्रकाशन

नाश का विनाश

(पौराणिक नाटक)

●

लेखक

मामा वरेरकर

अनुवादक

रामचन्द्र रघुनाथ सर्वटे

●
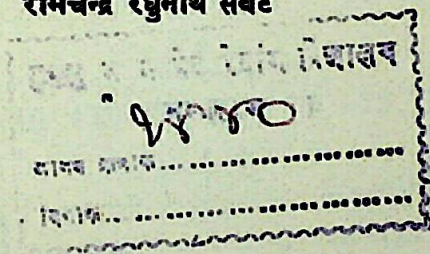
१९६५

सस्ता साहित्य मण्डल नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय,
मन्त्री, सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली

पहली बार : १९६५
मूल्य

मुद्रक
युनाइटेड इंडिया प्रेस,
नई दिल्ली

प्रकाशकीय

मराठी के इस नाटक का हिन्दी रूपान्तर प्रकाशित करते हुए जहां हर्ष होता है, वहां गहरा विषाद भी। हर्ष इसलिए कि पाठकों को एक उत्तम कृति सुलभ हो रही है; लेकिन विषाद इसलिए कि इस नाटक के प्रकाशन में असामान्य विलम्ब हुआ और इस बीच इसके लेखक का स्वर्ग-वास हो गया। लेखक से जब कभी भेंट होती थी, वह बराबर पूछते थे कि किताब कब छपकर आ जायगी, लेकिन हमारे जल्दी करने पर भी पुस्तक उनके जीवन-काल में प्रकाशित नहीं हो सकी। लेखक की हिन्दी में कई पुस्तकें निकली हैं, लेकिन 'सस्ता साहित्य मंडल' तथा हम सबके प्रति उनकी बड़ी आत्मीयता थी, इसलिए जब उनका हिन्दी उपन्यास 'सिपाही की बीवी' मण्डल से निकला था और उसकी पहली प्रति हमने उन्हें भेंट की थी तो उन्हें एक अनोखा ही आनन्द मिला था। इसलिए यह रचना अब प्रकाशित हो रही है तो लेखक का ध्यान विशेष रूप से आ रहा है।

मामा मराठी के सिद्धहस्त लेखक थे। उनके कई उपन्यास, नाटक तथा कहानी-संग्रह मराठी के निकले हैं। उनमें से कुछ का हिन्दी में भी अनुवाद हुआ है। मामा चूंकि स्वयं एक कुशल अभिनेता भी रहे थे, इस-लिए उन्हें रंगमंच का विशेष अनुभव था। यही कारण है कि उनके नाटक जहां सुपाठ्य हैं, वहां मंच पर भी खेले जा सकते हैं।

हम लेखक के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए आशा करते हैं कि उनकी इस अत्यन्त रोचक, मनोरंजक तथा शिक्षाप्रद रचना का सर्वत्र आदर होगा और जो भी इसे पढ़ेंगे, उन्हें अपूर्व रस प्राप्त होगा।

—मंत्री

प्रस्तावना

कौन कहेगा कि 'नाश का विनाश' करने की कल्पना जितनी प्राचीन है, उतनी ही अर्वाचीन नहीं ? उत्पत्ति का पता अभी तक किसी को नहीं लगा, परंतु संहार अनादि काल से होता आ रहा है। यह नाटक जिस समय लिखा गया था, उस समय एटम बम का आविष्कार नहीं हुआ था। आगे एटम बम ने संहार किया और अब एटम बम के संहार की योजना आगे आ रही है। यह भी क्या एक प्रकार से नाश का विनाश ही नहीं ?

जगत के विनाश के लिए संहार के अत्यावश्यक होते हुए भी, उसका विनाश करके सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य स्थापित करना चाहनेवाले बड़े-बड़े कार्यकर्ता और रण-धुरंधर विद्वान भी अपने होश किस तरह खो बैठते हैं, यह जिस तरह आज दीखता है, उसी तरह आदिकाल में भी था। इसका इतिहास दक्ष की कथा में आया है। इसी अवास्तविक कल्पना के कारण प्रजापति दक्ष अपना मानसिक संतुलन खो बैठा। उसी तरह आज के दक्ष कहलानेवाले कुछ प्रजापति भी कहीं अपना संतुलन तो नहीं खो बैठेंगे, ऐसा लग रहा है। प्रलय की कल्पना प्राचीन है। उसी तरह उसे नाश करने की कल्पना भी केवल अर्वाचीन नहीं। यह नाटक जिस समय लिखा गया था, उस समय अवश्य इसका पता नहीं लगा था।

प्रजापति दक्ष की अधोगति की कथा अठारहों पुराणों में भिन्न-भिन्न प्रकारों से कही गई है। उन सबका संकलन करके प्रस्तुत नाटक की कथा-वस्तु निर्मित हुई है। प्राय: सभी पौराणिक कथाओं के पार्श्व में एक-न-एक रूपात्मक कल्पना होती है। उस कल्पना को ऐसा स्वरूप देकर, जो आधुनिक संस्कृति के अनुकूल हो, यह नाटक लिखा गया है।

क्या पुराण, क्या कुरान, क्या बाइबिल, सभी में आदिमानव (प्रिमिटिव-मॅन) की कल्पना प्राय: एक समान ही मिलती है। स्थान-भिन्नता के प्रभाव और संस्कार-सम्पन्नता के अभाव के कारण ही कुछ थोड़ा फर्क हो गया है। इस नाटक को लिखते समय कबीर के "बाबा आदम महादेव हैं, हौवा अम्बा

माता है" वाक्य ने मुझे काफी आधार दिया। आदिमानव और आदि-पुरुष इन दोनों विदेशी और भारतीय कल्पनाओं को एकत्र करके इस नाटक का शंकर चित्रित किया गया है। जिन पाठकों ने भिन्न-भिन्न धर्म-ग्रंथों का तुलनात्मक अध्ययन किया होगा, उन्हें यह भूमिका सहज ही ग्राह्य हो जायगी।

प्रेम की उत्पत्ति, विकास और परिणति प्रथम बार इसी प्रसंग से हुई। शिव-सती-संयोग की इस प्रेम-कथा को हम पहली प्रेम-कथा कह सकते हैं। सब पुराणों की प्रेम अथवा विवाह-कथाओं को देखने से यह दिखाई देगा कि इसके बाद की सारी प्रेम या विवाह-कथाएं इस कथा की मान्यता से निर्मित हुई।

आदिमानव के दो स्वरूप——बुद्धिप्रधान मानव और बुद्धिहीन मानव——इस नाटक में शंकर और उसके अनुचरों के रूप में चित्रित किये गए हैं। स्त्री-पुरुष के भेद की कोई कल्पना न रखनेवाला पहले अंक का आदिपुरुष शंकर-सती (आदि-प्रकृति) के संसर्ग से बुद्धि के बल पर जब जाग उठा, तब उसी समय 'प्रेम' की भावना के प्रभाव के कारण उसमें पूर्णता आ गई। परंतु भृंगी और भृंगी बुद्धि के अभाव में उसी तरह अपूर्ण बने रहे। शंकर और उसके अनुचरों द्वारा निर्मित कल्पना कम-से-कम साहित्य की दृष्टि से साधारण पाठकों को भी अपूर्व प्रतीत होगी।

अमीर-गरीब, अधिकारी और साधारण जनता, सिंहासनाधीश राजा और लोगों का कल्याण करने की इच्छा से दुनिया में स्वच्छंद घूमनेवाले अनभिषिक्त राजा, इनका झगड़ा भी अनादिकाल से चला आ रहा है। सन् १९१९ के बाद इस झगड़े को नागपुर के कांग्रेस-अधिवेशन में स्थायी विराट स्वरूप प्राप्त हुआ। उससे पहले की परिस्थिति का मेरे मन पर जो प्रभाव था, उसीसे इस कथानक को चुनने की मुझे स्फूर्ति हुई। सन १९१९ के मार्च महीने में, जब गणेश नाटक मंडली का श्रीगणेश इस नाटक से हुआ, तब यह नाटक 'नरकेसरी' के नाम से प्रकाशित हुआ था। उस समय यह गद्यात्मक था। जब यशवंत संगीत नाटक मंडली ने इसे संगीत नाटक के रूप में रंगमंच पर प्रस्तुत किया, तब अपने मित्र श्री बन्या बापू कमतनूरकर के सुझाव से इसका नाम 'लयाचा लय' यानें 'नाश का विनाश' रखा गया।

नागपुर में कांग्रेस के क्रान्तिकारी अधिवेशन के समय यह संगीत-नाटक खेला गया। यह भी एक प्रकार का संयोग ही है, ऐसा मुझे लगा।

यह नाटक पहले श्री मित्र के 'मनोरंजन' नामक मासिक पत्र में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ था और सन १९२३ में पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ था। इस नाटक की भूमिकाएं अतिमानव स्वरूप की होने के कारण उस समय के बाद से यह अधिक नहीं खेला गया। सन १९६० में, 'बलवंत पुस्तक भंडार' के मालिक और मेरे मित्र श्री त्र्यंबकराव परचुरे इतने वर्षों के बाद इसे पुनः मुद्रित कर, मेरे इस अत्यंत प्रिय नाटक को प्रकाश में लाये, इसके लिए मैं उनका आभारी हूं।

आज हिंदी की सुप्रसिद्ध प्रकाशन-संस्था, सस्ता साहित्य मंडल, इस नाटक को हिंदी में प्रकाशित कर रही है, यह भी बड़े हर्ष की बात है और इसके लिए मैं इस संस्था का भी आभारी हूं।

—मामा वरेरकर

१९१, साऊथ एवेन्यू
नई दिल्ली
दिनांक १ जून १९६१

पात्र-परिचय

दक्ष : ब्रह्मा के द्वारा नियोजित प्रजापालक प्रजापति

प्रसूती : दक्ष की पत्नी

सती : दक्ष की कन्या

कश्यप : दक्ष का राजपुरोहित

माया : योगिनी जो प्रसूती के मायके से दक्ष के घर आई थी

मन्मथ : कामदेव, प्रेम और काम का देवता

रति : मन्मथ की पत्नी

शंकर : कैलास के अधिपति, विश्व के संहार-कर्त्ता । फिर भी जगत-हित के कारण शिव और महादेव कहलाए

शृंगी, भृंगी : शंकर के गण

पार्वती : दक्ष के यज्ञ में प्राणान्त करके सती की आत्मा ने पार्वती के रूप में जन्म लिया जो पर्वत-कन्या थी और पुनः शिव की अर्द्धांगिनी बनी

अन्य : गंधर्व आदि

प्रथम अंक

दृश्य एक

(कश्यप और मन्मथ का प्रवेश)

कश्यप : मन्मथ, मैं यह नहीं कहता कि सती को हिमालय नहीं जाना चाहिए। प्रकृति-सौन्दर्य और मूर्त्तिमान प्रकृति-स्वरूपा सती का सौन्दर्य, दोनों का मनोहर एकीकरण देखने मैं भी चलता, परन्तु विवश हूं। दक्षप्रजापति की इच्छा के विरुद्ध मैं नहीं जा सकता। संसार की उत्पत्ति का अत्यन्त कठिन कार्य पितामह ब्रह्मदेव ने दक्ष को सौंपा है और उस कार्य में सहायता करने का सारा भार मुझ पर आ पड़ा है। ऐसे समय दक्ष का मुझ पर रुष्ट हो जाना और हम दोनों में मन-मुटाव हो जाना संसार की उत्पत्ति के लिए महान घातक होगा।

मन्मथ : सती के साथ आपके हिमालय जाने से आप और दक्ष में मन-मुटाव क्यों हो जायगा, यही मैं नहीं समझ पा रहा हूं।

कश्यप : हम जैसे अनाथ भिखारियों को आश्रय देकर हमारा पालन-पोषण करने के लिए दक्ष हमेशा तैयार रहता है। परन्तु अनाथ भिखारी यदि अपनी दरिद्रता की शान दिखाने लगें, तो उसे अत्यन्त असहनीय हो उठेगा।

मन्मथ : मतलब ? मैं तो कुछ भी नहीं समझ पाया !

कश्यप : आदिपुरुष शंकरजी कैलास के अधिपति हैं, यह तो तुम जानते हो न ? वह वहाँ के राजा हैं।

मन्मथ : शंकरजी ? राजा ? शंकरजी कब राजा हुए ?

कश्यप : मैंने जब कहा था कि वे कैलाश के अधिपति हैं, उस समय तुमने 'हूं' कर दिया और अब तुम उन्हें राजा मानने को तैयार नहीं। यह क्यों ?

मन्मथ : शंकरजी कैलास के राजा हैं, इसमें संदेह नहीं। परन्तु कैलास आखिर है क्या? संसार का एक महा स्मशान ही है वह! प्रजापति उत्पत्ति करते हैं और शंकरजी विनाश का कार्य करने वाले मूर्तिमान प्रलय हैं! वह राजा कैसे होंगे?

कश्यप : उत्पत्ति के वैभव में जैसा राजत्व है, उसी तरह प्रलय के तांडव में भी है। बल्कि हम यह भी कह सकते हैं कि प्रलय का वैभव जितना तेजस्वी है, उतना उत्पत्ति का नहीं। सारांश यह कि शंकरजी भी एक प्रकार के अधिराज हैं। उत्पत्ति के आयोजन का अधिकार मिल जाने के कारण दक्ष प्रजापति अन्य किसीका भी अधिकार स्वीकार करने को तैयार नहीं, और संसार में दिन-प्रति-दिन यह पुकार शुरू हो जाने के कारण कि शंकरजी ही महादेव हैं, शंकरजी के प्रति दक्ष के मन में मत्सर की आग भड़क उठी है।

मन्मथ : अच्छा? तो ऐसी बात है? अब कारण समझा।

कश्यप : इसीलिए कहता हूं कि मेरे हिमालय जाने से दक्ष के शंकाशील मन में यह शक हो जायगा कि वहां जाकर मैं शंकर से मिल जाऊंगा और उत्पत्ति के कार्य में सहायता देने के बदले विनाश के कार्य में हाथ बंटाने लगूंगा। इस भय से वह मुझे वहां कभी जाने ही न देगा।

मन्मथ : हां, तब तो आप विवश हैं। मुझ अकेले को ही सती के साथ जाना होगा। पर कश्यपजी, मैं यह पूछना चाहता हूं कि अपने साथ यदि मैं रति को ले जाऊं, तो कोई हर्ज तो न होगा?

कश्यप : बिल्कुल नहीं। एक तरह से यह अच्छा ही रहेगा। सती को अच्छा संग मिल जायगा।

मन्मथ : हिमालय पर शंकरजी के अनुचरों से हमें कोई कष्ट तो नहीं होगा?

कश्यप : छिः! छिः! बिल्कुल नहीं। भोले शंकर बाबा के भोले अनुचर हैं वे। बेचारे तुम्हें क्या कष्ट देंगे? फिर भी भोले लोगों को न चिढ़ाना ही अच्छा! ये भोले लोग जबतक सीधे

हैं, तबतक ठीक होते हैं; पर अगर कहीं चिढ़ उठे, तो प्रलय ही कर देते हैं।

मन्मथ : ऐसे पगलों की मैं ज़रा भी परवा नहीं करता। अच्छा, अब यह बताइये, शंकरजी के बारे में आपकी क्या राय है ?

कश्यप : दक्ष के राज्य में शंकरजी के बारे में क्या राय दे सकता हूं ?

मन्मथ : हां, यह तो सच है। दक्ष के समान वैभवशाली इस त्रिभुवन में कोई नहीं।

कश्यप : अगर शंकरजी के वैभव के बारे में जानना चाहते हो तो वैभव से उनका कट्टर वैर है। हिमालय पर यदि वह मूर्त्ति तुम्हें कहीं दिखाई दी, तो मैं क्या कहता हूं, यह तुम समझ जाओगे।

मन्मथ : यदि उनकी और सती की भेंट हो गई, तो कोई हर्ज तो नहीं ?

कश्यप : दक्षप्रजापति को अनाथ भिखारियों से अत्यन्त घृणा है।

मन्मथ : पर आपकी क्या राय है ?

कश्यप : शंकर और सती की भेंट होना इष्ट है या अनिष्ट, इस विषय में मैं कुछ भी नहीं कह सकता। पर दक्ष को यह अनिष्ट प्रतीत होगा, इसका मुझे पूर्ण विश्वास है।

मन्मथ : पर आपको कैसा लगेगा ?

कश्यप : मेरा मत इस समय केवल दक्ष के मत पर अवलम्बित है। परंतु थोड़ी देर के लिए यदि यह मान भी लें कि मेरा मत दक्ष से भिन्न है, फिर भी इससे क्या होगा ! शंकर की सती से भेंट हो, चाहे न हो, बराबर ही है। शंकरजी भोला शंकर हैं। उन्हें शायद यह भी पता न होगा कि 'स्त्री' और 'पुरुष' जैसा कोई भेद अस्तित्व में है।

मन्मथ : (स्वगत) जबतक मन्मथ से पाला नहीं पड़ा है, तभीतक यह शेखी है ! (प्रकट) तो मतलब यह हुआ कि अगर दोनों की भेंट हो जाय, तो कोई आपत्ति नहीं।

कश्यम : ऐसा मैंने कहा कहा ? क्या मैंने यह नहीं कहा कि दक्ष को यह बिल्कुल अच्छा न लगेगा।

मन्मथ : ठीक है। इसके लिए मैं उचित उपाय कर लूंगा। अच्छा, तो

रति को भी साथ ले जाना तय रहा न ?

कश्यप : मेरा ख़्याल है, योगिनी मायावती भी साथ जाय तो बहुत अच्छा होगा।

मन्मथ : कहीं आपका यह इरादा तो नहीं कि हम लोग आनन्द से न जायं ? समय-असमय उसके मुंह से निकलनेवाली वेदान्त की बातों से मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

कश्यप : किसी-किसी के रोमांच भी खड़े हो जाते होंगे ! पर वह चर्चा ही अभी छोड़ो। चाहो तो उसे ले जाओ, न चाहो तो मत ले जाओ। परन्तु रति को अवश्य ले जाना। उसका साथ ही पर्याप्त है। मैं अब चलता हूं। ठीक से जाना। और हां, शंकरजी के गणों से ज़रा बचकर रहना। समझे ? (प्रस्थान)

मन्मथ : (स्वगत) कहता है शंकर के गणों से बचकर रहना। क्यों बचकर रहना ? क्या इसलिए कि वे चिढ़ उठेंगे ? अगर चिढ़ गए तो क्या कर लेंगे हमारा ? इस बूढ़े को लगता है कि दुनिया की सारी अक्ल का ख़जाना उसीके हिस्से में आया है। पर उसे याद रखना चाहिए कि इस मन्मथ को निर्मित करते समय ब्रह्माजी ने संसार को जीतने की शक्ति उसके एक दृष्टिक्षेप में रख दी है। कितना घमंड है इसे ! यज्ञ-योग के बल पर यह दक्ष के कार्य को स्वरूप देना चाहता है ? ऐसे करोड़ों यज्ञ यह करता रहे, पर सब बेकार हैं। जबतक इस मन्मथ की सहायता नहीं मिलेगी, तबतक दक्षप्रजापति के कार्य को किसी भी प्रकार का स्वरूप प्राप्त न हो सकेगा। यह इस बूढ़े को क्या मालूम ? कितना पागल है यह ! कहता है, शंकरजी को स्त्री और पुरुष का भेद भी नहीं मालूम ! मालूम न भी हो शायद। परंतु जबतक इस मन्मथ से पाला नहीं पड़ा है, तबतक ही यह बात है। दक्ष नहीं चाहता कि मैं शंकरजी से स्नेह-गांठ जोड़ूं। शायद यह उसे अच्छा नहीं लगेगा। परंतु ऐसा अच्छा शिकार मैं क्यों अपने हाथ से जाने दूं ? दक्ष का आश्रित होकर भी हर बात में उसीके मतानुसार बर्ताव करने के लिए

कम-से-कम मैं तैयार नहीं । जिसे जो पसंद नहीं, उससे उसकी इच्छा के विरुद्ध भी वही करा देना, यह मेरा काम है। देखें, अब क्या होता है ? (प्रकट) अरे, महारानीजी ही यहां आ गईं। साथ में योगिनी भी है। (प्रसूती और मायावती का प्रवेश) मैं आप ही से मिलने आ रहा था। कश्यपजी की अनुमति से हिमालय-भ्रमण की सारी तैयारी हो गई है।

माया : अहाहा ! उस नगराज का नाम सुनते ही मैं रोमांचित हो उठती हूं। इस आशा से कि अब उनके प्रत्यक्ष दर्शन भी होंगे, मैं....

मन्मथ : आप वह आशा छोड़ दें। कश्यपजी की आज्ञा है कि सती के साथ रति और मैं, दोनों ही जायंगे। तीसरा और कोई नहीं जायगा।

माया : कश्यपजी का मुझ पर इतना क्रोध क्यों है ? महादेव के दर्शन...

मन्मथ : इसीलिए ! समझीं ! इसीलिए। कश्यपजी की इच्छा है कि सती महादेव के दर्शन न करें।

प्रसूती : कश्यपजी की ऐसी इच्छा ! आश्चर्य है ! हमारे राज्य में महादेव की प्रशंसा करने का साहस करनेवाले अगर कोई हैं तो केवल दो हैं। एक हैं कश्यपजी और एक यह। (मायावती की ओर उंगली दिखाती है।)

मन्मथ : इसीलिए इन दो व्यक्तियों को सती के साथ नहीं जाना चाहिए।

माया : अगर देव की यही इच्छा है तो मैं क्या कर सकती हूं ? निराश भी क्यों होऊं ? परंतु महारानी, हिमालय की याद आते ही मेरी देह पुलकित हो उठती है। निर्मल सुन्दर और शुभ्र हिमखंड पर शुभ्र भस्म से विभूषित वह गौरांग मूर्त्ति खड़ी है और उसके निकट ही सती की उग्र रमणीय मूर्त्ति उस शोभा को द्विगुणित कर रही है—ऐसा दृश्य मेरी आंखों के सामने मूर्त्त हो उठता है। (आंखें बन्द करके) शुभ्र वर्ण वृषभ पर आरूढ़, शुभ्र हिम-तुषारों का मुकुट पहने, शुभ्रवर्ण महादेव, उनके अंक में शुभ्र वर्ण सती, चारों ओर शुभ्र वर्ण पारषद, शुभ्र वर्ण नभमण्डल में देदीप्यमान शुभ्र वर्ण चन्द्रमा अपनी

शुभ्रतर किरणों से दोनों को मंगल स्नान करा रहा है. . . .

मन्मथ : हं हं। योगिनी, यह दक्षप्रजापति का राज्य है। क्या आपको विश्वास है कि शुभ्रवर्ण का यह शंकर दक्षजी को पसंद होगा ?

माया : दक्ष को जो पसंद हो, वह सारे संसार को पसंद होना ही चाहिए, ऐसा विधाता ने कहीं बंधन नहीं रखा।

मन्मथ : विधाता के बंधन की अपेक्षा प्रजापति का बंधन अधिक कठिन है। आप साथ न चलें, ऐसा जो मुझे लगा. . .

माया : तुम्हें लगा ?

मन्मथ : हां, मुझे लगा और उस रुख से ही मैंने कश्यपजी से पूछा और उस रुख से ही उन्होंने मुझे अनुमति दी। आपके साथ रहने से हिमालय का वैभव देखना तो एक ओर रखा रह जायगा, सती को भयंकर गरीबी देखते रहनी पड़ेगी। ऐसा पहले मेरा सिर्फ अनुमान था। पर अब विश्वास हो गया है।

माया : ठीक है। महारानीजी, मैं जिस आशा को लेकर सती के साथ जाना चाह रही थी, उस आशा के सफल होने की आज यद्यपि कोई संभावना नहीं दीख रही है, फिर भी . . .खैर, जाओ मन्मथ, तुम्हीं सती के साथ जाओ। कौन कह सकता है, कदाचित विधाता यही चाहता हो कि जो काम मुझसे न बन पड़ता, वह तुम्हारे हाथ से हो ? जाओ मन्मथ, तुम्हीं साथ जाओ। रति को भी साथ ले जाओ और हिमालय का काव्यमय-सौन्दर्य देखते समय इस मायावती का भी स्मरण रखना, इसीमें मुझे संतोष है। (जाती है।)

प्रसूती : योगिनीजी को क्रोध तो नहीं आ गया ?

मन्मथ : ऐसा तो नहीं कह सकते कि क्रोध आया होगा। पर वह निराश अवश्य हो गई हैं। खैर, जाने दीजिए। आप कोई चिंता न करें। सती की सुरक्षा का सारा भार मैंने ले लिया है। रति मेरे साथ जायगी ही।

प्रसूती : मन्मथ, यह कोई असगुन तो नहीं है। मुझे बड़ा डर लगता है। सती भी बड़ी जिद्दी है। उसके मन में जो आ जाता है, उसे पूरा

किये बिना वह चैन नहीं लेती । महाराज की इच्छा है कि वह हिमालय न जाय । जो उनकी इच्छा है, वही मेरी भी है । पर हम दोनों की सुनता कौन है ? अच्छा, मानलो हमने उससे कहा भी कि हिमालय मत जा, तो कौन वह हमारी बात मान लेगी ? जैसे-तैसे मैंने महाराज को राजी किया, तब कहीं वह शान्त हुई ।

मन्मथ : प्रजापतिजी ऐसे भिखमंगों को इतना महत्त्व आखिर क्यों दे रहे हैं, मैं कुछ समझ नहीं पाता । सती इतनी पगली नहीं कि उस प्राचीन भिखारी को देखकर उसपर मोहित हो जाय ।

प्रसूती : छिः-छिः, प्रश्न मोहित होने का नहीं है । डर यह लगता है कि वहां वह पगला या उसके अनुचर सती का अपमान न कर दें ।

मन्मथ : करने दीजिए उन्हें अपमान ! हम भी देख लेंगे । इसके लिए उन्हें उचित दण्ड देने को प्रजापति के अनुचरों में भी भरपूर शक्ति है । महारानीजी, आप कोई चिंता न करें । इस मन्मथ के साथ होने पर किसी भी पुरुष से सती को भय नहीं । (दक्ष आता है ।)

दक्ष : मन्मथ! सती और भय, ये दो शब्द एक साथ लाना कायरता का लक्षण है । सती अतुल प्रतापशाली दक्ष की कन्या है । उसे भयप्रद लगनेवाला व्यक्ति इस त्रिभुवन में कोई नहीं ।

मन्मथ : मैं भी यही कहता हूं । हर व्यक्ति व्यर्थ ही शंकर के भय का इतना ढिंढोरा पीट रहा है कि मुझे ऐसा लगने लगा है, कि कहीं मैं भी उससे सचमुच न डरने लगूं ।

दक्ष : तुम्हें ऐसा लगेगा ही । तुम में पौरुष की प्रबलता नहीं है या स्त्रीत्व का आधिक्य है, यही ठीक से समझ में नहीं आता ।

मन्मथ : यह कहने से कि दोनों बराबर हैं, काम चल जायगा । पर देव, शंकर क्या सचमुच इतना भयप्रद प्राणी है ?

दक्ष : जिसे भय का भय नहीं, उसे शंकर से भय क्यों होगा ? कम-से-कम मैं तो शंकर से ज़रा भी नहीं डरता । हिमालय के उच्चतम शिखर पर रहनेवाले उस मनुष्य रूपी गिद्ध को देखकर, बहुत

हुआ तो भूत-प्रेत डर जायंगे। परंतु मेरी दृष्टि में, एक फूंक से पानी हो जानेवाले हिमालय के हिमकणों के बराबर ही उसकी योग्यता है।

प्रसूती : फिर आप सती को हिमालय जाने से क्यों रोक रहे थे ?

दक्ष : क्यों न रोकता ? हिमालय भूतों और भिखारियों की नगरी है। वैभवशाली लोग यदि ऐसे स्थान में चरण रखें तो यह भिखारियों को बड़प्पन देना होगा। हम वैभव का विभव जिस तरह अनुभव करते हैं, उसी तरह रंक का दारिद्र्य आंखों के सामने भी नहीं लाते। दारिद्र्य का संपर्क महामारी की तरह संसर्गजन्य है। भावना-प्रधान वैभवशाली व्यक्ति यदि दरिद्रता का नित्य दर्शन करे, तो उसमें दरिद्र होने की लालसा उत्पन्न होने लगेगी। सती का स्वभाव भी भावना-प्रधान है। हिमालय का काव्यमय सौन्दर्य देखकर, उसे वहां आवश्यकता से अधिक दिन रहने की पगली इच्छा होने लगेगी।

प्रसूती : तो आप भी मानते हैं कि हिमालय का सौन्दर्य काव्यमय है ?

दक्ष : देवी, हम जितने सौन्दर्य के उपासक हैं, उतने काव्य के नहीं। शायद कोई यह कहे कि सौन्दर्य और काव्य, ये दो भावनाएं एक दूसरे से अभिन्न हैं। ऐसा हो भी शायद। पर हम जिसे सौन्दर्य कहते हैं, उसका काव्य से कोई संबंध नहीं. . . .

प्रसूती : आप तो जाने क्या कह रहे हैं !

मन्मथ : देवी, दास की प्रार्थना है आप कोई चिन्ता न करें। हिमालय पर सती अधिक दिन वास न करें, इसकी जिम्मेदारी मैं लेता हूं।

दक्ष : मन्मथ, सती कितनी जिद्दी है, क्या इसकी तुम्हें कोई कल्पना भी है ?

मन्मथ : है महाराज !

दक्ष : बिल्कुल नहीं ! सती को तुम यदि पहचानते होते तो इतनी जल्दी 'है महाराज' न कहते। मैं कितना जिद्दी हूं, यह जानते हो तुम ?

मन्मथ : जीहां, पूरी तरह जानता हूं।

दक्ष : तो वह मेरी कन्या है, यह ध्यान में रखो और उसकी इच्छा का विरोध करके उसकी जिद मत बढ़ने देना।

मन्मथ : (स्वगत) एक रहस्य तो मालूम हुआ! (प्रकट) जो आज्ञा!

दक्ष : देवी, चलो। हिमालय जाने से पहले मैं सती से दो शब्द कहना चाहता हूं। मैं पहले उसीके पास जानेवाला था। पर कश्यप के यह बताने पर कि रति और मन्मथ भी उसके साथ जा रहे हैं, मैंने सोचा, पहले मन्मथ से मिल लूं और यहां चला आया। चलो। (दोनों जाते हैं।)

मन्मथ : (स्वगत) बड़ी कठिनाई आ गई। अब वैर किससे करूं? मायावती से? छि:! उससे वैर करने में क्या पुरुषार्थ है? शंकरजी से? परंतु शंकरजी कैसे हैं, यह सिर्फ सुनी हुई बात से ही मुझे मालूम है। फिर क्या दक्षप्रजापति से? अपने स्वामी से? मुझमें पुरुषार्थ का प्राबल्य न कहनेवाले अपने स्वामी से? यदि यह सिद्ध करना है कि मुझमें पुरुषार्थ का प्राबल्य नहीं है अथवा मेरा प्राबल्य ही पुरुषार्थ है, तो स्त्री-पुरुष का भेद न जाननेवाले शंकर के गले में सती को बांधे बिना दूसरा चारा नहीं। विरोध मेरा जीवन है और सम्मिलन मेरा कार्य है। विरोध का सम्मिलन न हुआ, तो मन्मथ का अस्तित्व ही किस काम का? पर सती का इससे कल्याण होगा या अकल्याण होगा? कौन जाने क्या होगा? आगे का विचार करने की मुझे क्या आवश्यकता? परंतु इसमें एक तरफ से मुझे हार माननी पड़ेगी। ऐसा हुआ तो मायावती की इच्छा अवश्य पूरी हो जायगी और उससे मुझे अत्यन्त घृणा है। जीत जाने दो उसे, कोई हर्ज नहीं। लड़ना शक्तिशालियों से ही चाहिए—अनाथों को कुचलने में क्या पुरुषार्थ है? बस, यही तय रहा। हे आदिपुरुष शंकर, इस मन्मथ ने अब तुम्हारी ओर दृष्टि घुमाई है और दक्ष के दर्प की परीक्षा के लिए वह तुमसे निकष का कार्य लेनेवाला है। (जाता है।)

दृश्य दो

(कैलास की तलहटी)

(भृंगी और मृंगी)

भृंगी : सच कहता हूं तुमसे, ऐसे प्राणी मैंने आजतक कभी नहीं देखे थे।

मृंगी : देव के दर्शन के लिए आये कोई तपस्वी होंगे।

भृंगी : नहीं जी, क्या मैं इतना भी नहीं पहचानता ? आजतक अनेक ऋषि-मुनि और तपस्वी मेरे सामने आये हैं, और बहुतों को स्वयं देव के पास ले गया हूं, पर यहां बात ही कुछ अलग है। हैं तीन ही प्राणी, पर तीनों तीन प्रकार के हैं।

मृंगी : उनका ठीक से वर्णन करके तो बताओ मुझे।

भृंगी : एक, एक है जरा लंबा-चोड़ा, चेहरा अत्यन्त सुंदर है, और क्या बताऊं तुम्हें, बिल्कुल भिखारी दीखते हैं तीनों। किसी के भी न मूंछें हैं, न दाढ़ी। एक के सिर पर कुछ जटाभार-सा मालूम होता है। पर ऐसा लगता है जैसे सारे जुगनू ही उस पर बैठ कर चमक रहे हैं। उसकी देह का चमकदार चमड़ा घुटनों तक लटक रहा था और उसका रंग था तोते के पंख की तरह। दूसरे दो कौन थे, यही मैं नहीं समझ पाया और उनका वर्णन मैं कर पाऊंगा, ऐसा मुझे नहीं लगता।

मृंगी : अरे भई, थोड़ा प्रयत्न करके तो देखो।

भृंगी : (सिर खुजाकर) छिः, वह नहीं बनता। दोनों, दोनों तरफ से कुछ फूले हुए होंगे ऐसा लगा। उनके शरीर पर के चीथड़े आगे-पीछे लटक रहे थे। शरीर पर जगह-जगह जुगनू चमक रहे थे। और उनमें जो एक छोटा-सा प्राणी था, उसके चेहरे की ओर देखने से तो बड़ा अजीब-सा लगता था! छिः, भई, उसका वर्णन करते ही नहीं बनता।

मृंगी : बड़ा आश्चर्य है ! कौन होंगे वे ?

भृंगी : कुछ कह नहीं सकते। अगर उन्हें मनुष्य कहें तो उनके सींग नहीं थे।

भृंगी : तुम्हारे एक सींग है तो इसका मतलब यह नहीं कि सभी मनुष्यों के सींग होते हैं।

भृंगी : मैं मनुष्य हूं ही नहीं। तुम्हारे सींग नहीं, इसलिए तुम कोई नहीं और नंदी के दो सींग हैं, इसलिए वह महादेव का वाहन हुआ। अहाहा! मेरे एक सींग और होता तो क्या ही मजा आ जाता!

भृंगी : एक ही सींग से तुम्हारा पशुत्व जब इतना खिलकर दीख रहा है....

भृंगी : परंतु देव की मुझ पर जो अधिक कृपा है, वह आखिर इस सींग के ही कारण है न?

भृंगी : हमारे देव को पशु अधिक प्रिय हैं, इसमें सन्देह नहीं।

भृंगी : देव को पशु प्रिय हैं, इसीलिए मुझे पशुत्व अच्छा लगता है। पर तुम कौन उन्हें अप्रिय हो।

भृंगी : वैसे देखा जाय तो देव सभी के प्रति सम्मान-भाव रखते हैं। इस विषय में वह कोई भेद-भाव नहीं करते।

भृंगी : अच्छा, इन बातों को छोड़ो। परंतु वे प्राणी—अरे देखो, उनमें के दो प्राणी इसी तरफ आ रहे हैं। चलो, पहले यहां से हटो।
(रति और मन्मथ प्रवेश करते हैं।)

रति : क्या ही विचित्र स्वभाव है! कितना भयंकर शिखर है यह! पर हमारी बात न मानकर सती जल्दी-जल्दी पहले ही ऊपर चढ़ आई और हमें इतना समय लग गया!

मन्मथ : जिद्दी मनुष्यों की यही आदत होती है। जिस काम को करने से हम उन्हें रोकते हैं, उसको वे अवश्य करते हैं। परंतु उसका यह काम मेरे हित का ही है।

रति : सो कैसे?

मन्मथ : योगिनी के मुंह से काव्यमय वर्णन सुनकर हिमालय पर्वत देखने की सती की उत्कण्ठा बढ़ी। इस हिमालय के एक अत्यन्त उच्च शिखर पर, जिसे कैलास कहते हैं, शंकर नाम का एक पुरुष रहता है। कोई कहते हैं, वह आदि पुरुष है। कोई उसे महादेव, याने सब देवों में बड़ा देव कहते हैं। कश्यपजी मुझसे कह रहे

थे कि इस शंकर को स्त्री और पुरुष, यह भेद ही बिल्कुल नही मालूम....

रति　: क्या कहा ! स्त्री-पुरुष, यह भेद नहीं मालूम ? स्त्री के सहवास के बिना इस वीरान प्रदेश में उससे आखिर रहा कैसे जाता है !

मन्मथ　: मैं भी तो यही कह रहा हूं । स्त्री पुरुष की अर्द्धांगिनि है । स्त्री पुरुष की देवी है । स्त्री पुरुष का जीवन है । ऐसे रमणीय सहवास के अभाव में बेचारे शंकर को क्या कष्ट होते होंगे, इसकी तुम्हीं कल्पना करो । मुझे उस पर दया आती है । सती अनायास ही यहां आ गई है । इसलिए मैं सोच रहा हूं....

रति　: (बात बीच में काटकर) कि यह जोड़ी जमा दी जाय । विचार तो बड़ा अच्छा है । परन्तु दक्षप्रजापति इस शंकर से अत्यन्त घृणा करते हैं, ऐसी मेरी धारणा है ।

मन्मथ　: जहां रुकावटें और बाधाएं हैं, वहीं मेरा कार्य-क्षेत्र होता है । मेरी यह टेक तुम भी जानती हो । अब इस कार्य में मुझे तुम्हारी सहायता की आवश्यकता है । शंकर को स्त्री की कल्पना नहीं है । पर सती को पुरुष की कल्पना न हो, यह बात नहीं । उसका स्वभाव कुल मिलाकर पुरुष जैसा ही है । वह इतनी बड़ी हो गई है, पर स्वभाव से अभी बालिका की तरह ही अल्हड़ है । अब हमें किसी-न-किसी तरह शंकर से मिलना चाहिए । आगे किस प्रकार क्या करना है, यह तुम्हें उस-उस प्रसंग पर आप-ही-आप मालूम हो जायगा ।

रति　: सती के मन में शंकर के प्रति प्रेम उत्पन्न कराना चाहते हो न ? तो यह काम मेरे जिम्मे रहा । पर यह शंकर दीखने में कैसा है ?

मन्मथ　: यह तो मुझे भी नहीं मालूम । प्रकृति ने उसे जो भी सौन्दर्य दिया है, उतना ही उसके पास होगा । कृत्रिम सौन्दर्य के साधनों का उसे कोई पता ही न होगा, ऐसा मैं सोचता हूं; क्योंकि संसार के एक महान भिखारी के नाते वह विख्यात है ।

रति　: तब तो समस्या बड़ी कठिन है । पर यह सती आखिर गई कहां ?

भृंगी　: (भृंगी आगे बढ़ता है । भृंगी डरते-डरते उसके पीछे खड़ा हो

जाता है ।) महाराज, आप कौन हैं और इस कैलास पर आपका आगमन क्यों हुआ ?

मन्मथ : हम दक्षप्रजापति के गण हैं । अपने महाराज की कन्या के साथ हिमालय देखने आए हैं ।

भृंगी : कन्या ! कन्या क्या होती है ?

मन्मथ : कन्या याने महाराज की रानी के गर्भ से पैदा हुई उनकी लड़की ।

भृंगी : आपका एक शब्द भी मैं नहीं समझा ।

रति : मैं तुम्हें क्या लगती हूं ? मैं कौन हूं ?

भृंगी : यही तो मेरी समझ में नहीं आ रहा है ? क्योंजी भृंगी, यह कौन प्राणी है ?

भृंगी : अरे भई, मैं क्या जानूं ? मेरे लिए भी यह एक पहेली ही है ।

मन्मथ : यह मेरी स्त्री है ।

भृंगी : याने यह आपकी कन्या है शायद ?

मन्मथ : नहीं जी, यह अपने पिता की कन्या है और मेरी पत्नी है ।

भृंगी : पिता की कन्या ? जगत-पिता हमारे महादेव हैं । क्या यह उन्हींकी कन्या है ?

मन्मथ : अरे बाबा, संसार में पिता बहुत हैं ।

भृंगी : चुप रहो । जगत-पिता केवल एक महादेव हैं । उन्होंने मात्र इच्छा से यह चराचर जगत निर्मित किया है ।

मन्मथ : परंतु चराचर निर्मित करनेवाले और भी बहुत से पिता हैं ।

भृंगी : हमारे महादेव उनका संहार करेंगे ।

मन्मथ : संहार करेंगे यह सच है । परंतु पहले सब स्त्री-पुरुष निर्मित तो हो जाने चाहिए न ?

भृंगी : पुनः आप यह 'स्त्री' ले आए ।

रति : इधर देखिये, मैं स्त्री हूं और यह (मन्मथ की ओर अंगुली दिखाकर) पुरुष हैं ।

भृंगी : और हम कौन हैं ?

मन्मथ : आपको जब स्त्री मिलेगी, तब आप भी पुरुष हो जायंगे ।

भृंगी : तो मैं इससे मिलूं ?

मन्मथ : अजी, यह मेरी स्त्री है। पराये पुरुष को उसे स्पर्श भी न करना चाहिए ।

भृंगी : छिः ! यहां तो मेरा मस्तिष्क ही कुछ काम नहीं करता। आप क्या कह रहे हैं, कुछ समझ ही में नहीं आता।

मन्मथ : देखिये, यह आपकी दाढ़ी है ? यह दाढ़ी कभी भी मेरी नहीं हो सकेगी अथवा आप भी किसी दूसरे को इसे हाथ नहीं लगाने देंगे ।

भृंगी : पर यह दाढ़ी मेरी चिबुक से चिपकी हुई जो है।

मन्मथ : जिस तरह यह दाढ़ी देह की दृष्टि से, आपसे अभिन्न है, उसी तरह मेरी यह स्त्री आत्मा की दृष्टि से, मुझसे अभिन्न है। याने यह मेरी अर्धांगिनि है।

भृंगी : हां, अब समझ गया। यह और आप दोनों की आत्मा एक हो गई है ।

मन्मथ : हां, अब आप बिल्कुल ठीक समझे। परन्तु मुझे आश्चर्य यह होता है कि इससे पहले आपकी समझ में यह कैसे नहीं आया ?

भृंगी : ऐसे प्राणी अभीतक यहां निर्मित नहीं हुए हैं।

रति : क्या महादेव की कोई अर्धांगिनि नहीं ?

भृंगी : नहीं, बिल्कुल नहीं। और उसकी हम लोगों को अभीतक कोई आवश्यकता भी प्रतीत नहीं हुई ।

रति : तब तो यही कहना पड़ेगा कि आप लोग बड़े अभागे हैं। अर्धांगिनि नहीं ? बड़ा आश्चर्य है ।

भृंगी : क्योंजी, क्या प्रत्येक की एक अर्धांगिनि होनी ही चाहिए ? फिर हमारे देव को भी एक अर्धांगिनि ला दीजिए न। इस प्रदेश में एक भी स्त्री नहीं। बड़े-बड़े देवदार के वृक्ष हैं, भूर्ज वृक्ष हैं, सुमेर जैसे पर्वत हैं, नदियां हैं, शेर हैं और भी अनेक प्रकार के जानवर हैं। परंतु स्त्री एक भी नहीं ।

मन्मथ : हां, हमारे साथ अभी एक ऐसी स्त्री आई थी। मार्ग में हमारा उसका साथ छूट गया। क्या आपको वह कहीं दीखी थी ? आपके देव कहां हैं ? उन्हें दीखी हो शायद, चलकर उन्हींसे पूछें।

भृंगी : महादेव अभी थोड़ी देर पहले इसी मार्ग से उस उच्च शिखर पर (देखता है और कुछ चौंककर) देखिये-देखिये—उधर ऊपर देखिये। वह हमारे महादेव हैं और आपके साथ आई स्त्री भी उन्हींके समीप खड़ी है।

मन्मथ : क्या कह रहे हो? शंकर से सती की भेंट हो गई? रति और मन्मथ की मध्यस्थता के बिना ही सती ने शंकर से भेंट कर ली? (एक तरफ) प्रिये, धोखा हो गया। अब क्या करूं? उन दोनों के हृदयों में यदि निष्काम प्रेम का उपक्रम हो गया होगा तो मेरे पांचों बाण अब व्यर्थ हो जायंगे। (प्रकट) चलो-चलो, हम पहले महादेव का दर्शन करें। आप लोग चलिये, हमें मार्ग दिखाइए...

भृंगी : आइये—आइये, हमारे पीछे-पीछे चले आइए। (जाते हैं।) (एक शिलाखंड पर शंकर और सती खड़े हुए दिखाई देते हैं।)

शंकर : अतिथि, सारे संसार में दरिद्रों के चक्रवर्ती राजा के नाते मैं विख्यात हूं। पैशाचिक प्रकृति के अरण्यवासी गण मेरे अनुचर हैं। मेरे रहने के लिए घर भी नहीं। जिस तरह मैं चाहे जहां रहता हूं, उसी तरह मेरे अनुयायी भी चाहे जहां रह जाते हैं। यहां घर का बंधन नहीं, उपजीविका की कोई रुकावट नहीं, परिवार का उपसर्ग नहीं। है केवल आनंद का साम्राज्य।

सती : आपके इस एक ही उत्तर से मेरे सारे प्रश्नों का निराकरण हो गया।

शंकर : अतिथि, यदि यह कहूं कि आपने बाह्य संसार की जो कल्पना मुझे दी है, उसे मैं ठीक से नहीं समझ पाया हूं, तो कोई हर्ज नहीं। मुझे यह कल्पना ही न थी कि उपजीविका के लिए किसी को इतना कठिन परिश्रम करना पड़ता होगा। आनंद ही जीवन की परिचर्या और आनंद ही संसार की उपजीविका है, ऐसा मेरा अनुभव है...

सती : कितना आनंदमय स्थान है यह! जहां देखिये वहां आनंद जैसे मूर्त्तिमान होकर नाच रहा है। गगन को चूमना चाह रहे

ये देवदार के वृक्ष आनंद से झूम रहे हैं। अपने ही आनंद में खोये हुए गिरि-कंदराओं में बहनेवाले ये नन्हें-नन्हें जल-प्रपात जहां-तहां जैसे आनंद का छिड़काव कर रहे हैं। निःस्तब्ध आनंद की विशाल कालशून्यता को जाग्रत करने के लिए प्रसन्न हिमखण्ड ऊंचे शिखर से, कारण न होते हुए भी धड़ाधड़ ढह रहे हैं। इस सब आनंद के बीच देव, आपकी आनंदमयी मूर्त्ति देखकर, क्षण में जम जानेवाले यहां के जल-प्रवाह के समान, मैं भी इस आनंद में जम जाऊं, ऐसा मुझे लगने लगा है।

शंकर : अतिथि, आपकी बातों से मेरे आनंद-सागर में तरंगें क्यों उमड़ने लगीं ? मेरे गण नित्य मेरी प्रशंसा करते हैं। उनकी बातों से मेरा समाधि-मग्न मन कभी उत्तेजित नहीं होता। पर आप मेरा निर्देश भी करती हैं तो भी मेरे हृदय में आनंद की लहरों का एक तूफान उठने लगता है। ऐसा क्यों होना चाहिए ?

सती : देव, आपकी मूर्त्ति देखने के बाद से मेरे मन की तो बड़ी विलक्षण स्थिति हो गई है। परिचय न होते हुए भी आपने मेरा बड़े प्रेम से स्वागत किया। यह न जानते हुए कि मैं योग्य हूं या अयोग्य, अपने अंतरंग मित्र की तरह मेरे साथ आपने बर्ताव किया। सो क्यों ?

शंकर : यही तो मैं भी नहीं समझ पा रहा हूं। आपने क्या कहा ? परिचय न होते हुए मैंने स्वागत किया ? सच, क्या मेरा और आपका परिचय नहीं था ?

सती : जी नहीं। हमारा सचमुच परिचय नहीं था। मैंने आजतक कभी हिमालय नहीं देखा था, फिर कैलास की तो बात ही क्या ? आप इस स्थान को छोड़कर और कहीं गये ही नहीं थे। फिर आपको मेरा परिचय कैसे होता ?

शंकर : तो मतलब यह कि इसके बाहर भी संसार है ? होगा शायद। अतिथि, इसके बाहर संसार अवश्य होगा। मैं यहां के आनंद में उन्मत्तता से स्वच्छंद घूमता रहता हूं। इस कारण कोई बाह्य संसार है, इसका ज्ञान भी मैं अपने को नहीं होने देता था।

आनंद में मस्त होकर जब मैं अपने आपको भूल जाता हूं, उस समय असंख्य जीवों की हृदयभेदक चीखें मुझे पुनः होश में ला देती हैं। मुझे लगने लगता है कि अंधकार के प्रचंड तांडव के कारण वे जीव मार्ग भूलकर एक ही केन्द्र की ओर गिड़गिड़ाहट भरी दृष्टि से ताक रहे हैं। वे मुझे ही ताक रहे होंगे, ऐसा मुझे प्रतीत होता है और उनके उस करुणाजनक दृष्टिपात से मेरा हृदय द्रवीभूत होकर मैं होश में आ जाता हूं। परंतु जाग्रत होते ही मुझे चहुं ओर पुनः आनंद का साम्राज्य दीखने लगता है।

सती : अब समझी। दक्षप्रजापति उत्पत्ति-कार्य जानबूझकर कर रहे हैं। पर आप अपने आनंद के आवेश में उत्पत्ति, स्थिति और लय कर रहे हैं और आपको इसका बोध तक नहीं। दक्ष-प्रजापति का अभिमान व्यर्थ है।

शंकर : मैं कुछ भी नहीं करता। मेरी कभी यह इच्छा नहीं होती कि किसी का कुछ हो। और कहीं कुछ होता रहता है, यह आप ही के मुंह से मैं प्रथम बार जान रहा हूं।

सती : मुझ यह सब बड़ा विलक्षण प्रतीत होता है। आप यह कहते अवश्य हैं कि मेरी बातें आप नहीं समझते। परंतु आपका जीवन मुझे एक आनंदमय रहस्य ही लगता है।

शंकर : आनंद कहते ही मुझे आनंद होता है। पर अतिथि, आपके मुंह से निकला हुआ 'आनंद' शब्द सुनते ही मुझे क्या होता है, यही मैं नहीं समझ पाता। पुनः एक बार केवल 'आनंद' कहिये तो !

सती : आनंद...आनंद...आनंद !

शंकर : यह क्या हो रहा है ? मुझे क्या हो गया ? अतिथि, मेरी देह अब मुझसे संभाली नहीं जा रही है। मुझे कसकर पकड़ लीजिए (आंखें मूंदकर) आनंद...आनंद...आनंद। (सती उसे कस-कर पकड़े हुए आंखें बंदकर खड़ी रहती है। इसी समय मन्मथ, रति, भृंगी और भृंगी आते हैं।)

मन्मथ : क्योंजी, क्या तुम्हारे देव सो गए हैं ?

भृंगी : देव के पास कौन है यह ?

रति : यहां क्या खड़े-खड़े ही सोने की रीति है ? क्योंजी, बोलते क्यों नहीं ?

भृंगी : उनके पास कौन है ? और असमय ही देव समाधिस्थ कैसे हो गए ?

रति : आप अपने देव को कृपाकर जगा दीजिए ।

भृंगी : समीप कौन है ? अच्छा, समझा ? यही है वह स्त्री—भृंगी, अरे, यह स्त्री देव से मिली । अब हमारे देव पुरुष हो गए । जय शंकर ! अरे भृंगी, हमारे देव को अर्धांगिनी मिल गई । जय शंकर ! हर हर हर महादेव ! (दोनों चिल्लाते हैं । शंकर जाग उठते हैं । मन्मथ उनके पैरों से बाण स्पर्श करके हाथ जोड़कर खड़ा हो जाता है और रति सती का हाथ पकड़ लेती है ।)

रति : अरी पगली, यह क्या किया ? पराये पुरुष से आलिंगन ?

मन्मथ : देव, यह अल्प भेंट स्वीकार कीजिए । (बाण चरणों के पास रख देता है ।) इस दास को आशीर्वाद दीजिये ।

शंकर : पधारिये-पधारिये अतिथि, इस कैलास पर आपका स्वागत करता हूं । (स्वगत) यह क्या हुआ ? कुछ समय पहले का मेरा आनंद कहां चला गया !

मन्मथ : बिना कुछ अर्पण किए देव की भेंट नहीं लेनी चाहिए, ऐसी हमारी परिपाटी है । उसके अनुसार ये पांच बाण...

शंकर : इन्हें अपने पास ही रहने दीजिए ।

मन्मथ : निवेदन है कि देव इन्हें स्वीकार करें ।

शंकर : भृंगी जब मुझे फल अर्पित करता है, तब उनमें के आधे खाकर बचे हुए फल मैं उसे दे देता हूं । पर इन बाणों का मैं क्या करूं ? अजी अतिथिजी—(सती को पास न देखकर) यह क्या ? आप दूर क्यों चली गईं ? आइये-इधर आइये, बिल्कुल मेरे पास बैठिये । (सती पास बैठ जाती है ।)

रति : अरी पगली सती, यह क्या ? पर-पुरुष से इतना सटकर बैठना...

मन्मथ : देव, पहले मेरी यह भेंट स्वीकार कीजिए ।

शंकर : (सती से) अतिथि, इन बाणों का......

रति : देव, इसका नाम सती है।

शंकर : सच ? क्या प्रत्येक का नाम होता है ? अजी अतिथि—नहीं, सती—मुझे कोई शंकर कहते हैं, कोई महादेव कहते हैं। क्या आपने मेरा नंदी देखा है ? भृंगी.....

मन्मथ : देव पहिले आप यह भेंट स्वीकार......

शंकर : सती, इस भेंट को मैं कैसे स्वीकार करूं ? ये कोई फल नहीं। ये अतिथि तो बड़े प्रेम से—अरे हां,—आपका नाम क्या है ?

मन्मथ : मेरा नाम है, मन्मथ।

शंकर : (रति से) और आपका ?

रति : यह क्या देव ? आप हमें आदरसूचक शब्दों से संबोधित न कीजिये। मेरा नाम रति है।

शंकर : कैसा पागल हूं मैं ? प्रत्येक का नाम होता है, यह मैं बिल्कुल भूल ही गया था। अहाहा ! सती ! कितना मीठा नाम है। सती, तुमने पहले ही मुझे अपना नाम क्यों नहीं बताया ?

सती : आपको देखते ही मैं अपने आपको ही भूल गई थी। फिर नाम और रूप का मुझे कैसे स्मरण होता ?

शंकर : नहीं-नहीं ! नाम तो पहले बताना था। नाम में ही तो मिठास है। पर मैं तुम्हें कैसे दोष दूं ? मैंने भी कहां तुम्हें अपना नाम बताया था ?

सती : क्यों नहीं बताया ?

शंकर : क्यों नहीं बताया ? पगली—अरे, पर मैंने यह क्या कह दिया ? रति ने तुम्हें पगली कहा तो मैं भी तुम्हें पागल की तरह पगली कहने लगा !

सती : ऐसा क्यों कहते हैं ? जब आपने मुझे पगली कहा, तब मुझे बड़ा आनंद आया !

शंकर : सच ? तो अरी पगली, मैं भी तुम्हें देखते ही अपना नाम भूल गया था।

मन्मथ : देव, आप इन बाणों को भी भूल गए।

शंकर : अरे पगले, मैं वाण भी भूल गया। सती, अब तुम्हीं बताओ, इन वाणों को मैं किस तरह स्वीकार करूं ?

रति : देव, यह मैं बताती हूं। कोई जब आपको फल अर्पण करता है, तो आप उनका सेवन करते हैं। जब कोई जल अर्पित करता है, तो आप उसे प्राशन करते हैं। अब वाणों को वाणों की तरह ही स्वीकार करना चाहिए। फल खाने के लिए हैं, जल पीने के लिए है, फूल शोभा और सुवास के लिए हैं। उसी तरह वाण छिद जाने के लिए हैं। धनुष की प्रत्यंचा पर बैठकर ही उन्हें आपकी देह को स्पर्श करना चाहिए।

शंकर : ठीक है। मन्मथ, इन वाणों को धनुष पर चढ़ाकर मेरे हृदय को वेध दो।

सती : यह आप क्या कह रहे हैं, देव ? रति, कैसी पगली हो तुम ? देव का दर्शन करने के बाद हमें उनकी सेवा करनी चाहिए या उन पर शस्त्र उठाना चाहिए ?

रति : अरी पगली, इन वाणों की नोंक देख। इनमें अन्य वाणों की तरह लोहे की घातक नोंक नहीं है, बल्कि मनुष्य के आह्लादिक श्वास से भी जो एक क्षण में कुम्हला जाते हैं, ऐसे मनोहर और कोमल पुष्पों के बने हैं ये।

सती : फिर भी देव पर वाण चलाना आतिथ्य का अतिक्रमण करना होगा। तुम दोनों के मस्तिष्क बिगड़ गए हैं। तुम्हारे मस्तिष्क तो कभी ठिकाने पर रहते ही नहीं। परंतु एक क्षण के लिए भी, जिसे तुम्हारा सहवास हो जाता है, उसे भी तुम पागल कर देते हो।

शंकर : इसमें पागल कर देने की कोई बात नहीं। कोई किसी भी प्रकार से मेरी पूजा करे, तो उसे स्वीकार करने के लिए मैं सदैव उत्कंठित रहता हूं।

मन्मथ : देव, यह आपकी महानता है। पर हम आपके दास हैं। आप पर शस्त्र कैसे उठा सकते हैं ?

सती : यदि तुम यह समझते थे तो वाणों की ही भेंट क्यों लाये ? वाणों

को छोड़कर क्या और कोई वस्तु तुम्हें नहीं मिली भेंट देने को ?

मन्मथ : देव को देना है तो अपना सर्वस्व दे देना चाहिए। ये पांच वाण ही मेरे सर्वस्व हैं। जब किसी युद्ध में जाना होता है, तब इन्हीं पांच वाणों से मुझे अपना कार्य पूरा कर लेना पड़ता है, क्योंकि प्रजापति की आज्ञा है कि मुझे छठवां वाण दिया ही न जाय। इसलिए अपना यह सर्वस्व ही मैं देव के चरणों में अर्पण कर रहा हूं।

शंकर : उठो मन्मथ, धनुष पर वाण चढ़ाओ और मुझे अर्पित करो।

सती : ज़रा मुझे तो दिखाओ ये वाण। (मन्मथ वाण देता है और वह उसकी नोकें अपने हाथ में चुभोकर देखती है।) क्या इन्हीं को तुम कोमल फूल कह रहे हो ? देखो, सहज लग जाने से भी वे मेरे हाथों में चुभ गए।

रति : फूल जितना अधिक कोमल और दीखने में जितना अधिक सुंदर होता है, उसके डंठल पर उतने ही अधिक कड़े कांटे होते हैं। मामूली फूलों के डंठलों में कांटों की तरह दीखनेवाली सिर्फ पत्तियां होती हैं। परंतु फूल यदि कोमल और अत्यत मनोहर हो तो उसमें तीव्र कांटे होते ही हैं।

सती : यदि ये कांटे देव के हृदय में चुभ जायं तो इससे क्या तुम्हें संतोष होगा, मन्मथ ?

मन्मथ : इस पर तो मैंने कभी ध्यान ही नहीं दिया था।

शंकर : कोई हर्ज नहीं। दे दो ये वाण मन्मथ को। हां मन्मथ, चढ़ाओ ये वाण अपने धनुष पर।

सती : नहीं। मैं ऐसा कभी न करने दूंगी। अगर आपकी इच्छा ही है, तो आप उन्हें अपने हृदय से स्पर्श करके मन्मथ को लौटा दीजिए। बेचारे का सर्वस्व क्यों छीन लिया जाय ?

शंकर : ठीक है। जैसी तुम्हारी इच्छा। (वाण हाथ में लेता है। अपने हृदय से उन्हें स्पर्श करता है और मन्मथ को लौटा देता है।)

मन्मथ : अहाहा ! देव, आपकी यह कितनी उदारता ! मुझ जैसे अपरिचित को भी आपने कितना सम्मान दिया !

शंकर : (स्वगत) यह क्या ? बाणों का स्पर्श होते ही यह क्या हो गया ? क्या मेरी नित्य की आनंद वृत्ति विलुप्त हो गई ? नहीं, पर उसका कोई रूपान्तर हुआ है, इसमें संदेह नहीं । आनंद वही है, परंतु उसकी लहरें अवश्य अपरिचित लगती हैं ।

सती : देव, आप स्तब्ध क्यों हो गए ? बाणों के अग्रभागों का स्पर्श होने से आपके हृदय को कोई दुःख तो नहीं हुआ ?

शंकर : दुःख तो नहीं हुआ । पर कुछ हुआ है अवश्य । सती, तुम मुझे कितनी रमणीय दीख रही हो ? तुम्हारे नेत्रों में यह असाधारण ज्योति एकाएक कहां से आ गई ? मुझे लगने लगा है कि तुम्हारी आंखों में आंखें डाले हुए ही मैं बैठा रहूं । आओ-आओ, सती । बिल्कुल मेरे पास आ जाओ । हम दोनों के बीच कोई व्यवधान न रहना चाहिए । आओ, बिल्कुल नजदीक आ जाओ । (उसे अपने पास खींच लेता है ।)

मन्मथ : देव, यह क्या हो रहा है ? यह कौन है ? आप कौन हैं ? कुछ क्षण पहले आपको इसके अस्तित्व का भी पता नहीं था और अब उसका निकट सहवास आपको इतना आवश्यक मालूम होने लगा ? यह क्या है ?

शंकर : कोई कुछ भी कहता रहे, पर सती के बिना मैं एक क्षण के लिए भी न रहूंगा ।

रति : देव, आप जैसे महान पुरुष को ऐसा नहीं करना चाहिए । यदि आपको स्त्री की पवित्रता की कल्पना होती तो सती के बारे में आप ऐसे उद्गार न निकालते । सती, कम-से-कम तुम्हें तो कुछ लाज-शर्म होनी चाहिए । उन्होंने कहा कि मेरे पास आ जाओ, और तुम एकदम उनके पास चल दीं ? कुछ लज्जा भी है तुम्हें ?

शंकर : लज्जा की क्या आवश्यकता है ?

मन्मथ : देव, यह मैं बताता हूं ।

रति : सती, पर तुम पहले वहां से उठकर यहां आकर खड़ी हो जाओ ।

सती : क्यों ? मुझे किसी की लज्जा नहीं और न मैं इतनी भीरु

और कायर हूं, जो किसी की मर्यादा का पालन करूं ! मुझे जो अच्छा लगेगा, वैसा मैं करूंगी। मैं नहीं समझती कि तुममें इतनी योग्यता है कि तुम्हारी शिक्षा को मानूं। मैं इसी तरह यहीं बैठी रहूंगी।

मन्मथ : पर सती, तुम्हारे लिए वह पर-पुरुष जो हैं।

शंकर : नहीं-नहीं, इनके बारे में मुझे परायापन बिल्कुल नहीं लगता। आजतक, मुझे सूना-सूना लगता था। वह अपूर्णता आज पूर्ण हो गई। मेरे मन पर क्या प्रभाव पड़ा, यह मैं यद्यपि ठीक-से नहीं कह सकता, परंतु इनके शरीर के दर्शन से मेरे नित्य के आनंद को कोई मनोहर स्वरूप प्राप्त हो गया है, इसमें संदेह नहीं।

रति : आपका आनंद आपके पास है। सती को उससे क्या मतलब? उसे अपना आचरण संभालना है। देव, किसी कुमारी का परपुरुष के इतने पास बैठना भी शिष्ट-सम्मत नहीं।

सती : रति, तुम कहती हो, वह सब सच है। परंतु देव को छोड़कर मुझसे रहा ही नहीं जाता। फिर इसके लिए मैं क्या करूं? जन की लाज करने के लिए यहां कोई जन ही नहीं है, फिर यहां मैं अपने मन के अनुसार बर्ताव क्यों न करूं?

रति : अजी, पर हम लोग जो हैं—हम कौन हैं? क्या हमारे सामने भी तुम पराये पुरुष के गले में बांह डालकर इस तरह बैठोगी?

शंकर : ऐसा करना यदि अनुचित है तो तुम दोनों इतनी घनिष्टता से क्यों बर्ताव करते हो?

मन्मथ : देव, यह मेरी पत्नी है और मैं इसका पति हूं।

शंकर : तुम जिस तरह तुम इसके स्वामी हो, वैसा इससे मेरा संबंध नहीं, यह सच है। सती, अभीतक के मेरे बर्ताव से तुमने देख ही लिया है कि मैं कितना मूढ़ हूं। मन्मथ रति से अधिक होशियार दीखता है, इसीलिए वह उसका पति हुआ। मैं हूं पागल। संसार के आचार से अपरिचित हूं। जबतक मुझे यह न लगा था कि बाहर जो संसार है, उसमें जाकर मिलूं, तबतक मेरी मूढ़ता

मुझे आनंददायी हो गई थी। पर आज मेरे हृदय में नई स्फूर्ति का उद्रेक हुआ है। इसलिए आजतक जिस मूढ़ता पर मुझे गर्व था, वही मुझे अब दुस्सह लग रही है। संसार में किस तरह वर्ताव करना चाहिए, यह मैं नहीं जानता। तुम्हारे सेवकों की दृष्टि में भी मैं तुम्हारे लिए अयोग्य सिद्ध हो रहा हूं। सती, बताओ, अब मैं क्या करूं?

मन्मथ : सचमुच देव, आप बड़े अभागे हैं। मेरी पत्नी को देखिये—यदि मैं इसका हाथ पकड़ लूं तो कोई भी मुझे नहीं रोक सकता। मैं इसे यदि खींचकर इस तरह अपने हृदय से लगा लूं तो मुझे किसी से शर्माने की जरूरत नहीं। और देव, क्या बताऊं? आपके सामने मैं अतिक्रमण नहीं कर सकता, नहीं तो इस समय मैं इसका चुंबन भी ले लेता।

सती : मन्मथ, कुछ लाज-संकोच भी है तुम्हें?

मन्मथ : सती, मेरी बातें तुम्हारे लिए नहीं। तुम चाहो तो कानों में अंगुलियां डालकर आंखें बंद कर लो। सच कहता हूं, यदि तुम यहां न होतीं तो देव के सामने भी मैं इसका चुंबन ले लेता।

शंकर : चुम्बन? अहाहा! चुम्बन! चुम्बन मैं जानता हूं। मेरा नंदी मुझे अपनी पीठ पर बिठालकर ऊंचे-ऊंचे शिखरों पर निर्भयता से स्वच्छंद घूमता है। किसी भी कठिनाई की परवा न कर जिस समय वह हिमालय की तलहटी से कैलास के उच्चतम शिखर पर मुझे पहुंचा देता है और मेरे नीचे उतरते ही जब कान खड़े करके, तिरछी गरदन से मेरी ओर देखता हुआ चारों खुरों पर कूदने लगता है, तब प्रेम के उबाल से फूलकर मैं उसे अपने पास खींच लेता हूं और बड़ी आतुरता से उसके गाल का चुम्बन लेता हूं।

मन्मथ : छिः! यह कोई वह चुम्बन नहीं।

शंकर भृंगी और नंदी कभी-कभी लड़ पड़ते हैं...

भृंगी : (आगे बढ़कर) कभी-कभी क्यों? हम रोज ही लड़ते हैं। उसके दो सींग हैं, इसका उसे बड़ा गर्व है।

शंकर : अंत में बहुधा भृंगी ही हार जाता है ।

भृंगी : मैं हारूंगा क्यों नहीं ? मेरे एक ही सींग जो है ।

शंकर : हार जाने से उसे दुःख होता है । दुःखावेश में वह रो पड़ता है, रूठकर एक तरफ बैठ जाता है । उसकी सिसकियां नहीं रुकतीं, तब मैं उसे अपने पास खींच लेता हूं और समझाने लगता हूं । फिर भी वह शान्त नहीं होता । तब अंत में उसे अपनी छाती से लगाकर प्रेम से उसके कपोल प्रदेश का चुम्बन लेता हूं । तभी वह शान्त होता है ।

भृंगी : और तभी नंदी भी गर्दन झुकाये चुपचाप चल देता है ।

मन्मथ : छिः ! यह भी वह नहीं—यह निरा वात्सल्य है !

शंकर : कभी-कभी पर्वत के उच्च शिखर पर मैं बैठा होता हूं । ऊपर नभमंडल में असंख्य मेघ-मालाएं समूचे पर्वत पर काली छाया फैलाती हुई इतस्ततः भ्रमण करती रहती हैं । उनकी आपस में चल रही क्रीड़ा को देखकर, मुझसे भी हँसी नहीं रोकी जाती । इसी समय उसमें का एक छोटा-सा बादल धीरे-से नीचे उतर-कर मेरी जटा को स्पर्श करके भागने लगता है । तब अपने इस त्रिशूल से मैं उसे नीचे खींचता हूं । वह गिड़गिड़ाता है—रोने लगता है । यह देखकर मेरा हृदय द्रवीभूत हो जाता है । मैं उसे नीचे खींच लेता हूं और उसे अपना एक चुम्बन दे देता हूं । तब वह हँसते-हँसते ऊंचा उड़कर दृष्टि से ओझल हो जाता है ।

मन्मथ : छिः ! यह भी वह नहीं—यह केवल भाव-प्रधानता है !

शंकर : किसी दिन पक्षियों के श्रुतिमनोहर कलरव से मैं चौंककर जाग पड़ता हूं । उस समय पवन अर्द्ध-निद्रावस्था में झपकियां लेता हुआ इधर-उधर फुदकता रहता है । उसे पकड़कर पूर्णरूप से जगा देने के लिए मैं उसके पीछे दौड़ पड़ता हूं । यह जानकर भी कि मैं पीछा कर रहा हूं, झोंके खाता हुआ, किन्तु बड़े वेग से वह मानसरोवर के किनारे जाकर रुक जाता है और अरुण के उदय होते ही सो जाता है । वहीं ठिठक कर वह कैसे सोता

है, यह मैं ध्यानपूर्वक देखने लगता हूं। सरोवर के मध्य भाग में एक ही कमल-कलिका उस पवन की वह अर्धोन्मेषावस्था देखने के लिए धीरे-से ऊपर उठती है। सोते समय वह क्रमश: इने-गिने निश्वास छोड़ने लगता है। वैसे-वैसे वह कलिका आनंद से झूमने लगती है। इसी समय सूर्योदय होता है। त्योंही वह कलिका अपनी मुग्धावस्था छोड़कर, चौंककर, गर्दन उठाकर, उदित हो रहे सूर्य को प्रणाम करती है और मैं भी जल का व्यवधान भूलकर, सरोवर के मध्यभाग की ओर लपककर, उस कलिका को चूम लेता हूं।

सती : अहाहा ! धन्य है वह कलिका !

मन्मथ : देव, फिर भी मैं जो कहता हूं, वह यह नहीं। आपके मन में भिन्न-भिन्न भावनाएं भिन्न-भिन्न समय पर उत्पन्न हुई थीं और आपने ये चुम्बन लिये। जब वे सब भावनाएं एकत्र होकर एक ही चुम्बन लेने के लिए कारणीभूत होंगी और किसी रमणी के कमल-कलिका जैसे स्निग्ध होंठों से जिस समय आपके होंठ क्षण-भर के लिए स्पर्श करेंगे. . . .

शंकर : होंठों का चुम्बन ? सच—सती ! नहीं—मन्मथ, तुमने क्या कहा ? होंठों का चुम्बन ? सती, यह कल्पना अत्यंत हृदयंगम है।

मन्मथ : देव, यह कल्पना नहीं, यह मूर्त्तिमान सत्य है (रति को लक्ष्य करके) इन होंठों का चुम्बन लेने का मुझे पूर्ण अधिकार है। देव, सचमुच आप बड़े अभागे हैं ।

शंकर : सचमुच मैं अभागा हूं। सती, रति जिस तरह इस मन्मथ की है, उसी तरह तुम मेरी हो जाओ। हो जाओगी न ? पर नहीं, यह उसका पति है, उसका स्वामी है। उसका स्वामी होने की इसमें योग्यता होगी, परन्तु तुम्हारा स्वामी होने के लिए मैं बिल्कुल अपात्र हूं। मेरा इतने समय का अस्तित्व व्यर्थ हुआ। अहा-हा ! होंठों का चुंबन !

रति : अरी पगली सती, कम-से-कम अब भी उनसे दूर हो जा। क्या

तुझे याद नहीं कि तू कुमारी है ? (सती चौंककर, शंकर से अलग हो जाती है) । अब कैसी दूर हो गई ! देखिये देव, इसी में अब आप समझ लें ।

शंकर : क्या समझूं ? सती, तुम क्यों चौंक पड़ीं ? एकदम इस तरह दूर क्यों चल दीं ? मुझसे कोई भूल तो नहीं हो गई ?

रति : क्योंजी, अब क्यों चुप हो ? बोलती क्यों नहीं ? देखा देव, ऐसी बात है यह । प्रेम के साम्राज्य की भाषा हमेशा उलटी होती है ।

शंकर : सती, तुम्हारा पति होने के लिए मैं बिल्कुल अपात्र हूं । कहीं इसीलिए तो तुम मुझसे दूर नहीं हो गई ? इससे पहले, सच कहता हूं, मेरे मन में कभी यह विचार ही नहीं आया था कि किसी का पति होकर मैं शान दिखाऊं । अब भी मुझे ऐसा नहीं लगता । पर तुम्हारे बिना मैं नहीं रह सकता । जबतक तुम मुझसे मिली नहीं थीं, तबतक कभी भी मुझे तुम्हारा अभाव नहीं मालूम हुआ । परंतु अब तुमसे भेंट हो जाने पर तुम्हारा वियोग मुझे दुस्सह हो जायगा । सती, पति के नाते नहीं, पर कम-से-कम एक दास के नाते क्या इस दीन को तुम स्वीकार कर लोगी ?

सती : यह क्या कहते हैं आप ? आपके दास की दासी होने की भी योग्यता मुझमें नहीं ।

मन्मथ : (जल्दी-जल्दी) हो चुका । सबकुछ जम गया । अब जहां कन्या-दान हुआ कि काम हो जायगा ।

शंकर : कन्या-दान ? यह क्या मामला है ?

मन्मथ : देव, सती दक्ष की कन्या है । जबतक यह अविवाहित है, तबतक इसका अपने आप पर कोई अधिकार नहीं । यह तभी आपकी हो सकेगी, जब इसका पिता आपको इसे दान में दे । कम-से-कम उस समय तक आपको इसका वियोग सहन करना होगा ।

शंकर : कन्या-दान क्या यहीं नहीं हो सकेगा ? इसके पिता को यहां आने में क्या आपत्ति है ? इसे घर जाने की क्या आवश्यकता ?

मन्मथ : वर को वधू के घर जाकर कन्या के पिता से उसकी याचना करनी पड़ती है।

भृंगी : (स्वगत) ऐसा ? गनीमत है जो मैं कन्या नहीं हुआ, नहीं तो पशु से भी अधिक पराधीन हो जाता।

शंकर : ठीक है। चलो, हम सब साथ ही दक्ष के पास चलें।

मन्मथ : अंह। यह काम बड़ा कठिन है। दक्षप्रजापति आपसे अत्यन्त घृणा करते हैं।

शंकर : मैंने कभी किसी का द्वेष नहीं किया। उन्हें मुझसे घृणा क्यों करनी चाहिए ?

मन्मथ : यह मैं क्या बताऊं ? आप स्वयं आइये वहां। वहीं आप सब समझ जायंगे। हमें अब यहां से लौट जाना चाहिए। अगर देर होगी, तो दक्षप्रजापति हम पर रोष करेंगे। चलो सती, तुमने हिमालय पूरी तरह देख लिया है न ?

रति : हिमालय देखा हो या न देखा हो, हमें अब जाना ही चाहिए।

शंकर : जाना ही चाहिए। सती, बोलो, क्या तुम्हें भी जाना ही होगा ?

सती : हां, जाना तो होगा ही। पर देव, आपके चरणों की दासी के लिए क्या आप दक्षप्रजापति के द्वार पर पधारेंगे ? आपसे द्वेष रखनेवाले मेरे पिताजी यदि आपका अपमान कर दें तो क्या आप उसे सहन कर लेंगे ? देव, मुझे लौटकर जाना तो होगा ही। परंतु जबतक आप मेरे घर आकर मुझे पुनः यहां नहीं ले आते, तबतक यह सती मृतप्राय है, ऐसा समझिये। आपका दक्ष के घर अपमान ही मेरा जीवन है। (अभिवादन करती है) चलो मन्मथ, अब पीछे मुड़कर भी मत देखो। (वे जाते हैं)।

शंकर : अरे भृंगी, भृंगी, जाओ-जाओ, उन्हें मार्ग दिखाओ। (जाते हैं) (स्वगत) वह चली गई! मुझे आज यह क्या हो गया है ? मेरा आनन्द कहां गया ? आजतक मेरा आनन्द मेरे हृदय में था। वह कैसा था, मैं जानता न था। आज उस आनंद की मूर्त्ति मैंने प्रत्यक्ष रूप में देखी। अब उस अमूर्त्त आनंद को लेकर मैं क्या करूंगा ? जबतक आनंद अमूर्त्त था, तबतक अनजाने, मैं उसमें खो

जाया करता था। उस समय 'मैं' आनंद था। अब 'मेरा' आनंद हुआ। मैं और वह। जिसे द्वैत कहते हैं, क्या वह यही है? क्या यह द्वैत का ही अवतार हुआ? तो कहना होगा कि द्वैत में भी आनंद होता है। होता है अवश्य। अद्वैत के आनंद की अपेक्षा यह आनंद अधिक मूर्त्त है। मैं इस आनंद की मूर्त्ति को ही चाहता हूं। वही मेरा आनंद है। वही मेरा जीवन है। वही मेरा ऐश्वर्य है। परंतु वह चल गई। मेरा आनंद मुझसे छीनकर भाग गई और मैं रंक से भी रंक हो गया। मेरा सर्वस्व वह चुरा ले गई। उसे पुनः प्राप्त करने के लिए मुझे अब याचक बनना पड़ेगा। ठीक है। भिखारी को भीख मांगने में क्या आपत्ति है? मैं आजतक अन्न के लिए भीख मांगता था, अब प्रेम के लिए भीख मांगूंगा। दक्षप्रजापति मेरा अपमान करेगा? करने दो। भिखारी को मान काहे का? मान और अपमान की परवा न कर यजमान के घर निर्लज्जता से अड़कर बैठे बिना भिखारी को भीख नहीं मिलती। बस, मैं तैयार हूं। यह नर-कपाल हाथ में ले लिया। यह त्रिशूल उठा लिया और यह महादेव अपने बैरी के द्वार पर भीख मांगने के लिए, यह देखो, चल पड़ा। नगाधिराज हिमालय, तुम्हारा अधिराज आज तुम्हारी सीमा छोड़कर जा रहा है। तुम्हारा वैभव भूलकर अपनी दीनता का प्रदर्शन करने के लिए वह दक्षपति के द्वार पर प्रेम की याचना के लिए 'भिक्षांदेहि' की पुकार लगायगा। उसे आशीर्वाद दो और शक्तिमान होकर वापस आनेवाले अपने इस अधिराज का स्वागत करने के लिए तैयार रहो।

(परदा गिरता है।)

द्वितीय अंक

दृश्य एक

(प्रसूती और मायावती)

माया : रानी, सती की योग्यता इतनी बड़ी है कि महादेव के अतिरिक्त उसके लिए अनुरूप वर दूसरा कोई नहीं। महादेव के प्रति दक्षप्रजापति के मन में जो द्वेष है वह केवल भ्रम है। द्वेष किसी भी प्रकार का हो, परंतु अपने निजी द्वेष की अपेक्षा यह देखना कि अपनी कन्या का अधिक कल्याण कहां है, उनका कर्तव्य है और यदि वह अपने कर्तव्य में भूलते हैं तो तुम्हें उन्हें सावधान कर देना चाहिए।

प्रसूती : मैं प्रयत्न करूंगी। पर मेरी सुनेगा कौन? उनका स्वभाव आप जानती ही हैं। वह एक बार जो निश्चय कर लेते हैं, वह पत्थर की लकीर हो जाता है। कोई उन्हें कितना भी समझाये, पर वह उसे नहीं छोड़ते। ब्रह्मदेव ने भी उनसे यही कहा था। परंतु उसका भी उन पर कोई प्रभाव न पड़ा। कम-से-कम अपने पिता की आज्ञा तो उन्हें माननी चाहिए थी न? पर नहीं मानी, उल्टे द्वेष ही अधिक बढ़ा। जहां स्वयं उनके पिता की यह स्थिति हुई, वहां मैं बेचारी किस खेत की मूली हूं?

माया : मैं सोचती हूं कि स्वयंवर रचा जाय। सब देव निमंत्रित किए जायं। सती जिसे पसंद करे, उसे वरमाला पहिना दे। यह योजना ठीक रहेगी।

प्रसूती : यह हो सकता है। पर उस समय सती महादेव के गले में ही माला पहिनायगी, यह विश्वास कैसे हो?

माया : इसकी तुम कोई चिंता न करो। तुम किसी तरह स्वयंवर कराओ। फिर तुम्हें कुछ नहीं करना। आगे सब मैं देख लूंगी।

प्रसूती : ठीक है। करती हूं प्रयत्न। आगे उसका भाग्य है।

माया : सती हिमालय गई है। वहां शंकर से उसकी भेंट होगी ही। उस भेंट का कुछ-न-कुछ परिणाम हुए बिना न रहेगा। रानी, तुमने हिमालय नहीं देखा, इसलिए तुम्हें उसके वैभव की कोई कल्पना ही नहीं हो सकती। हिमालय को उत्पन्न करके विधाता ने अपनी बुद्धि की परमावधि दिखा दी है। यही नहीं, बल्कि कभी-कभी मुझे ऐसा लगता है कि विधाता के द्वारा सारी सृष्टि के निर्मित हो जाने के बाद, प्रसन्न होकर, भगवान ने ही यह हिमालय रूपी मुकुट इस सृष्टि के मस्तक पर पहना दिया है। रानी, हिमालय का वर्णन कैसे करूं! हिमालय का यथातथ्य वर्णन करनेवाला कवि आजतक पैदा नहीं हुआ और न आगे कभी होगा।

प्रसूती : योगिनी, आपके मुंह से हिमालय का वर्णन सुनकर, उसे देखने के लिए मेरा मन तो उत्सुक हो ही उठता है, परंतु ऐसा ही वैभव मेरी सती को मिले, यह भावना भी मेरे मन में पूर्ण रूप से दृढ़ होने लगती है।

माया : रानी, हिमालय का वैभव सुवर्ण और मोतियों का नहीं, हिमालय का वैभव कुबेर की संपत्ति नहीं, हिमालय का वैभव पृथ्वीपति के सिंहासन का भी नहीं। हिमायल रंकों का ऐश्वर्य है और पृथ्वीपति को भी जिसके आगे गर्दन झुका देनी पड़ेगी, ऐसा महान रंक उस हिमालय का राजा है।

प्रसूती : बेटी के भाग्य में क्या लिखा है, सो भगवान जाने। मैं लाख चाहूं कि अपनी बेटी रंक को दे दूं। पर उनका मन कैसे बदलूं? आपने अभी स्वयंवर का जो सुझाव दिया है, उसके बारे में उनसे बातें करूंगी। यह सुझाव यदि उन्हें पसंद आ गया तो आपकी कृपा से सब ठीक हो जायगा।

माया : रानी, प्रजापति के यहां आने का समय हो गया है। मुझे भी अब महादेव का पूजन करना है। इसलिए तुमसे विदा लेती हूं। तुम कोई चिंता न करो। ईश्वर तुम्हारी साध पूरी करेगा।

(जाती है ।)

प्रसूती : (स्वगत) मन भी कैसा पागल होता है ! सब लोग ऐश्वर्य चाहते हैं, पर मैं ऐसी पगली कि अपनी बेटी रंक को देना चाहती हूं । मैं स्वयं ऐश्वर्य के शिखर पर आरूढ़ हूं । मैं यद्यपि रंक की बेटी नहीं, फिर भी मुझे यह ऐश्वर्य अच्छा नहीं लगता । ऐश्वर्य के कारण हमें अनेक बंधनों में अपने आपको जकड़ लेना पड़ता है । अन्य ऋषियों ने अपनी बेटियां चाहे जिस ऋषि को दे दीं और हमें यह खोजना पड़ रहा है कि हमारी बराबरी का वैभवशाली कौन है, जिसे हम अपनी बेटी दें ! मेरी बहन देवहूती कर्दम मुनि की पर्णकुटी में बड़े सुख और संतोष में जीवन बिता रही है । इसी-लिए मुझे लगता है कि मेरी बेटी भी किसी ऋषि या मुनि के घर जाय तो अच्छा ! आखिर ऐश्वर्य में भी क्या सुख है ? जो है, वह कभी काफी नहीं मालूम होता । अगर अधिक मिले, तो वह भी अधूरा जान पड़ता है । कितना भी मिले, पर ऐसा कभी लगता ही नहीं कि हमें पूरा मिल गया है । असंतोष बढ़ाने-वाला ऐसा ऐश्वर्य प्राप्त होने की अपेक्षा सुख और संतोष की दरिद्रता क्या बुरी ? अस्तु, जो भी हो—कम-से-कम स्वयंवर की इस योजना से ही काम हो जाय तो समझूंगी सब पा गई । (दक्ष आता है ।)

दक्ष : क्या सोच रही हो । कहीं हमें किसी संकट में लाने का तो इरादा नहीं ? क्योंकि नित्य का क्रम ही यह है कि हम कोई योजना बनाएं और देवी उसे ठप्प कर दें ।

प्रसूती : हँसी की भी कोई सीमा होती है । अकारण ही किसी पर झूठा आरोप लगा देने से आपको क्या मिल जाता है, भगवान जानें ! मैं बेचारी क्या सोचूंगी ? हम स्त्रियां केवल एक ही बात सोचा करती हैं—पति का कल्याण कैसे हो !

दक्ष : और प्रजापति का कल्याण किसे सोचना चाहिए ?

प्रसूती : प्रजा को । मुझे उससे क्या करना है ?

दक्ष : ऐसा कैसे कह सकती हो ? तुम जिस तरह मेरी पत्नी हो, उसी

तरह मेरी प्रजा भी हो।

प्रसूती : नहीं, मैं आपकी प्रजा नहीं। प्रजा मेरी है। मैं प्रजापति की अर्धांगिनी हूं। एक अर्ध से पूजा का भार वहन करती हूं और दूसरे उत्तमांग से उस भार को वहन करनेवाले अर्ध की चिंता करती हूं।

दक्ष : कुल मिलाकर तुमने मुझे बोझा ढोनेवाला बना ही दिया। अब आगे कौनसी पदवी देने का विचार है ?

प्रसूती : पदवी देने का अधिकार मुझे नहीं। वह अधिकार पितामह को है।

दक्ष : हां, यह तो सच है। सती के जन्म-दिन पर उन्होंने मुझे प्रजापति के स्थान पर आरूढ़ किया। तब से अपने पराक्रम के बल पर मैं सारे त्रिभुवन पर अपना अधिकार जमाये हूं। इस स्थान पर मुझे नियुक्त करके विधाता ने अपनी बुद्धिमत्ता की पराकाष्ठा दिखा दी है।

प्रसूती : तो कहना चाहिए कि यह पद आपको सती के भाग्य से ही प्राप्त हुआ है।

दक्ष : इसमें सती का क्या भाग्य ? पर हां, यह एक संयोग अवश्य है और इसीलिए सती से मुझे अधिक प्रेम है। संतान-प्रेम की सृष्टि में यह एक नया ही प्रादुर्भाव हुआ है। इस कारण अन्य किसी भी प्रकार के प्रेम की अपेक्षा उसकी महिमा आज अधिक लग रही है। इसी दृष्टि से यदि तुम्हें यह लगे कि सती का जन्म-काल मेरे ऐश्वर्य के लिए एक प्रकार से कारणीभूत हुआ तो कोई आश्चर्य नहीं।

प्रसती. : खैर, कुछ भी हो, सती के प्रति आपका प्रेम अत्यंत उत्कट है, इसमें संदेह नहीं। पर अब समय आ गया है कि यह प्रेम एक तरफ रखकर, विधाता के नियमानुसार किसी अनुरूप वर को हमें उसे दान कर देना चाहिए।

दक्ष : 'प्रेम को एक तरफ रखकर' क्यों कहती हो ? उस प्रेम के कारण ही मैं उसके लिए अनुरूप वर खोज रहा हूं। उस प्रेम के कारण

हीं समूचे त्रिभुवन में मुझे उसके लिए अनुरूप एक भी वर नहीं मिल रहा है। देव, यक्ष, किन्नर, लोकपाल——सबको देख चुका, पर प्रत्येक में एक-न-एक दोष है ही। विष्णु ही एक ऐसा है, जो सती के लिए कुछ उपयुक्त-सा दीख रहा है, क्योंकि लक्ष्मी को उसने अपनी नित्य की सहचरी बना लिया है। पर जिस कारण से वह अनुरूप सिद्ध होता है, उसी कारण से वह अयोग्य भी सिद्ध होता है। लक्ष्मी विष्णु की पत्नी है, इसीका मुझे बड़ा दुःख होता है। अगर सती उसके पास जायगी तो वहां उसकी एक सौत भी रहेगी और उसे सौतेले भाव में रखना मुझे पसंद नहीं।

प्रसूती : तो इसके लिए यदि स्वयंवर की योजना की जाय तो क्या बुरा है?

दक्ष : छिः! छिः! इतनी महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारी अल्हड़ लड़की के बाह्य स्वरूप की परीक्षा के भरोसे छोड़ देने का परिणाम कभी हितकारी न होगा। स्वयंवर में अनेक घमंडी स्वांग बना-बनाकर उपस्थित होंगे। मंडप की सिर्फ शोभा बढ़ाने के लिए आनेवाले किसी ऐसे एकाध घमंडी के गले में यदि उसने माला डाल दी, तो उसके सारे जीवन का नाश हो जायगा। विष्णु जैसे जगत के पालक के गले में माला डालने में लक्ष्मी ने अपनी जिस बुद्धि का परिचय दिया, वह बुद्धि सती में होगी, ऐसा मुझे नहीं लगता।

प्रसूती : क्या हमारी सती को आप बिल्कुल ही मूर्ख समझ रहे हैं?

दक्ष : ऐसा मैंने कहां कहा? वह मूर्ख नहीं, यह सच है। परंतु लक्ष्मी की बुद्धि उसमें नहीं। आवश्यकताओं से अधिक लाड़ करके तुमने उसे बिगाड़ दिया है। मायावती के सहवास ने उसके मस्तिष्क में अनाप-शनाप विचार पैदा कर दिए हैं। वास्तविकता की अपेक्षा कल्पना की उड़ान की ओर ही उसकी रुचि अधिक बढ़ने लगी है। ऐसी स्थिति में यदि हम उसे स्वयंवर के मोह-जाल में उलझा दें तो उसके सुख की हानि तो होगी ही,

पर कदाचित हमारे ऐश्वर्य को भी कालिमा लग जाय !

प्रसूती : मैंने उसके ऐसे कौनसे लाड़ किए हैं, जिनके कारण वह बिगड़ गई है ! और आखिर उसमें वह बिगाड़ है कहां ?

दक्ष : पहले की बातें छोड़ दो। परंतु हाल ही में तुमने उसे हिमालय पर क्यों जाने दिया ?

प्रसूती : वह राजकन्या है। क्या राजकन्या को भी दर्शनीय स्थान नहीं देखने चाहिए ? ऐसे अलौकिक स्थानों को देखना केवल दो प्रकार के मनुष्यों के भाग्य में ही होता है। एक राव, या दूसरा रंक। दूसरे प्रकार के मनुष्यों के भाग्य में यह शायद ही होता है। दैवयोग से हम रंक नहीं हैं। फिर हमें जो ऐश्वर्य प्राप्त है, उसका सदुपयोग क्यों न कर लेना चाहिए ?

दक्ष : ऐश्वर्य का सदुपयोग करने के अन्य कई मार्ग हैं, जो इसकी अपेक्षा अधिक अच्छे हैं। रंकों की दरिद्रता देखने के लिए ऐश्वर्य का अपव्यय करने में क्या लाभ ?

प्रसूती : जिन रंकों को अपनी दरिद्रता ही ऐश्वर्य लगती है, वे हमारा वैभव कब और कैसे देखेंगे ? उन्हें यह कैसे मालूम हो कि सच्चा ऐश्वर्य हमारा ऐश्वर्य है—उनकी दरिद्रता नहीं। कम-से-कम अपने ऐश्वर्य की झांकी दिखाने के लिए यदि हम कभी-कभी दरिद्रों को अपना दर्शन दें तो क्या बुरा है ?

दक्ष : एक दृष्टि से तुम्हारे ये विचार ठीक हैं। पर इन भिखारियों को यदि हमारे ऐश्वर्य का पता लग गया, दरिद्रता के संतोष को छोड़कर वे भी ऐश्वर्य के लिए लालायित हो उठे तो हमारी सुरक्षा को धोखा हो जायगा। किसी भी दृष्टि से देखें, फिर भी अच्छा यही है कि राव और रंक हमेशा दूर-दूर ही रहें। रंक यदि राव के नजदीक आयें भी तो सेवक के रूप में ही आ सकते हैं। अब सती की बात ही लो। हिमालय के दर्शन से यदि कल उसे उसी जगह रहने की रुचि पैदा हो गई तो तुम क्या करोगी ?

प्रसूती : मैं क्या करती, इसकी सिर्फ कल्पना करने की अपेक्षा...

लीजिये, सती ही यहां आ रही है, वही इसका निराकरण कर देगी। (सती आती है।) आओ, बेटी, आओ। (उसे अपने समीप खींच लेती है।) इस प्रवास में तुम्हें श्रम तो नहीं हुआ? (सती दोनों को प्रणाम करती है।)

सती : बिल्कुल नहीं, मां। ऐसा स्थान देखने के लिए यदि कितने ही गुना अधिक श्रम होता, फिर भी मुझे उनकी परवा न होती।

दक्ष : बेटी, तुम पगली हो। बर्फ से ढके हुए बड़े-बड़े पत्थरों को व्यर्थ का महत्त्व देना, मेरी बेटी को शोभा नहीं देता।

सती : पिताजी, क्या आपने हिमालय देखा है? कैलास देखा है?

दक्ष : हां, देखा है। और भी बहुतसे बड़े-बड़े पत्थर देखे हैं।

सती : महादेव देखे हैं?

दक्ष : कौनसा महादेव?

सती : कैलासपति महादेव।

दक्ष : वही मरघट का भूत न? मैं उसका मुंह भी देखना नहीं चाहता।

सती : उनका मुंह यदि आप देखते तो ऐसा कभी न कहते...

दक्ष : और चूंकि तू इतनी उद्दंडता से बातें कर रही है, इसलिए यह निश्चित है कि तूने उस भूत का मुंह अवश्य देखा है।

सती : मैंने केवल मुखावलोकन ही नहीं किया, बल्कि उनका जो थोड़ा-सा सहवास मुझे प्राप्त हुआ, उसके कारण मुझे अब उनके सिवा और कुछ सूझ ही नहीं रहा है?

दक्ष : देखो, देवी देखो—मैं जो कह रहा था, उसका यह प्रत्यक्ष प्रत्यंतर देख लो। इसीलिए इन भिखारियों का अधिकार हमें त्याज्य लगता है। भिखारी आखिर भिखारी ही होते हैं। परंतु मात्र दर्शन से भी राजा को रंक कर देते हैं, सो इसी तरह! भिखारी आखिर भीख मांगेंगे, पर दक्षप्रजापति के आश्रित होने में हलका-पन मानते हैं।

सती : प्रत्येक रंक यदि महादेव के समान हो तो वह मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय लगेगा।

दक्ष : महादेव? यह बैताल महादेव कब हो गया? किसने इसे महा-

देव बना दिया ?

सती : जिन्होंने आपको प्रजापति का पद प्रदान किया, उन्हींके वह महादेव हैं। और आपके प्रजापति होने से पहले से ही वह देवाधिदेव हो बैठे हैं।

दक्ष : सती, मेरे शत्रु की क्या चारणी बनकर आई है तू यहां ?

सती : आप ही उनसे बैर कर रहे हैं। वह कहते हैं कि वह किसी से भी द्वेष नहीं करते।

दक्ष : वह कहते हैं—वह कहते हैं—वह जो कहते हैं, वह मेरे शब्दों की अपेक्षा तुझे अधिक महत्त्वपूर्ण लगता है ? क्या मेरी अपेक्षा उस भिखारी पर तेरा अधिक विश्वास है ? जिसने तेरा लालन-पालन किया, तुझे छोटे से बड़ा किया, तेरी सारी इच्छाएं पूरी कीं, उसकी अपेक्षा, एक क्षण के लिए जिसका तुझे सहवास हुआ, वह पागल गिद्ध, क्या तुझे अधिक आदरणीय हो गया ?

प्रसूती : यह आप क्या ऊटपटांग कह रहे हैं ? आखिर लड़की है। सहज उसने कुछ कह दिया तो इतने क्रोध की क्या आवश्यकता ?

दक्ष : क्रोध क्यों न आये ? मेरी लड़की ही यदि भिखारी का पक्ष लेने लगे तो मुझे क्रोध क्यों नहीं आयगा ?

सती : भिखारियों का पक्ष लेना ही प्रजापति का धर्म है।

दक्ष : खबरदार ! अब एक शब्द भी न बोल ! प्रजापति का धर्म मुझे सिखानेवाली तू कौन होती है ?

सती : मानवधर्मशास्त्र के निर्माता स्वयंभू मनु की कन्या की मैं कन्या हूं।

दक्ष : मनु की आज्ञाएं मानवों के लिए हैं। प्रजापति के लिए नहीं।

सती : तो क्या प्रजापति मानव नहीं हैं ? फिर कौन हैं ? देव या असुर ?

प्रसूती : सती—सती, यह क्या बक रही है ? कुछ तो सोच !

दक्ष : यह सब हिमालय की हवा का प्रभाव है। मन्मथ कहां है ? क्या इसीलिए मैंने उसे इसके साथ भेजा था ? कहां है मन्मथ ?

(मन्मथ प्रवेश करता है।)

मन्मथ : दास सेवा में हाजिर है।

दक्ष : क्यों रे चांडाल, हिमालय जाते समय मैंने तुमसे क्या कहा था ? मैंने तुमसे जता-जताकर कह दिया था न, कि वहां उस भूत से इसकी भेंट न होने देना ।

मन्मथ : हां देव, पर मैं क्या करूं ? भूत ही जो था ! जहां उसे हम नहीं चाहते थे, वहीं वह प्रकट हो गया ।

दक्ष : जब वह प्रकट हो गया था, तब उस स्थान को छोड़कर, तुम इसे एकदम दूसरे स्थान पर क्यों नहीं ले गए ?

मन्मथ : भूत ही तो ठहरा ! उसके लिए स्थल और काल की कोई मर्यादा नहीं होती । यह तो भाग्य समझिये जो अभीतक वह यहां आकर नहीं पहुंचा ।

दक्ष : अरेरे, यह कैसी मैंने नासमझी कर दी ? क्या करूं ? अब क्या करूं ? यह अब कैसे होश में आयगी ?

सती : जो बेहोश हो गए हों, वह होश में आवें । मैं जितनी पहले होश में थी, उतनी ही अब भी हूं ।

दक्ष : (प्रसूती से) सुनो—सुनो, देख लो अपने फालतू लाड़ का असर । क्या इसीका स्वयंवर रचने के लिए तुम मुझसे कह रही थीं ?

सती : स्वयंवर ? किसका ? मेरा ? सो किसलिए ?

प्रसूती : स्वयंवर और किसलिए किया जाता है । पति का चुनाव करने के लिए ।

सती : अब मुझे पति का चुनाव करने की आवश्यकता ही नहीं रही ।

दक्ष : (स्वगत) हो गया । अंत में धोखा हो ही गया ।

सती : मां, आप मेरी कोई चिंता न करें । अब केवल कन्यादान की तैयारी करके महादेव को निमंत्रण भेज दीजिए । बस, इतना ही करना है आपको !

दक्ष : यह कुछ नहीं होगा । देवी, मुझे तुम्हारी स्वयंवरवाली योजना ही पसंद है । स्वयंवर के लिए जो सारे देव और दिक्पाल एकत्र होंगे, उन्हींमें से किसी एक को इसे अपना पति चुनना होगा ।

सती : ठीक है । मैं शंकरजी को ही माला पहनाऊंगी ।

दक्ष : उस भूत को मैं स्वयंवर का निमंत्रण ही नहीं दूंगा।

सती : तो एकत्र लोगों में से मैं किसी को भी माला नहीं पहनाऊंगी। स्वयंवर-मंडप के मध्यभाग में खड़ी होकर जोर से शंकर को पुकारूंगी और थोथे सम्मान की परवा न करनेवाले मेरे देव दौड़कर आ जायंगे और मैं उनके गले में माला पहना दूंगी, जिसे वह सहर्ष स्वीकार करेंगे।

दक्ष : सती, तुझे कोई कल्पना भी है कि यह तू क्या बक रही है! देख, इस त्रिभुवन में चारों ओर दृष्टि घुमाकर देख। मैं अतुल ऐश्वर्यशाली हूं। मेरे ऐश्वर्य से स्पर्धा करनेवाला इस सारे त्रिभुवन में दूसरा कोन है? यद्यपि यह सच है कि मेरी टक्कर का कोई नहीं, फिर भी ढूंढ़ने से कम-से-कम दोयम दर्जे का तो मुझे अवश्य मिल जायगा। मेघों के राजा इन्द्र को देख, अथवा जगत के पालन-कर्ता विष्णु को देख। इन दोनों में से कम-से-कम कोई एक तेरे लिए अनुरूप है...

मन्मथ : देव, ये दोनों विवाहित हैं।

दक्ष : कोई हर्ज नहीं। दरिद्रता की यातनाओं से सौत लाख दर्जे अच्छी।

सती : ऐश्वर्य के लालच में सौत जिसे अच्छी लगे, वह मजे में उसको स्वीकार करे। परंतु उस दुस्सह अपमान की अपेक्षा दरिद्रता का सम्मान ही मुझे अधिक पसंद होगा।

दक्ष : अरी मूर्ख लड़की, दरिद्रता की यह बेढंगी रुचि तुझमें आखिर पैदा कैसे हुई?

सती : रंक का ऐश्वर्य देखने के कारण।

दक्ष : रंक और ऐश्वर्य! ये दो शब्द एक स्थान में आयें, यह बिल्कुल ही असंभव है।

सती : मैंने उन्हें एक स्थान में आये हुए प्रत्यक्ष देखा है।

दक्ष : क्या देखा है? बाघ का चमड़ा, लोहे का त्रिशूल, मनुष्य की खोपड़ी का भिक्षा-पात्र, सर्पों के आभरण, चिता-भस्म के प्रावरण और जटा का मुकुट; ऐश्वर्य के यही चिह्न तूने देखे हैं न?

सती : (हंसकर) पिताजी, कुछ समय पहले आपने कहा था कि

आपने शंकरजी को नहीं देखा। तो क्या वह झूठ कहा था ? आप झूठ बोले थे ?

प्रसूती : बेटी, ऐसी बातें नहीं करनी चाहिए। तू व्यर्थ ही आग में घी डाल रही है। क्या तू नहीं जानती कि अपनी कार्य-वस्तु पर दृष्टि रखकर बातें करने में ही हित होता है ?

सती : मां, मैं दक्षप्रजापति की कन्या हूं। कार्य-वस्तु के लिए मुंह-देखी बातें करना मुझे शोभा नहीं देगा।

दक्ष : तेरी इस मीठी बात पर मैं मोहित हो जाऊंगा, ऐसा मत समझ लेना। सती, तुझसे पुनः एक बार कहे देता हूं, उस पागल से मैं कभी संबंध नहीं रखूंगा। भिखमंगा होकर भी जो अधिकार की शान दिखाता है, ऐसे व्यक्ति को मैं अपनी दृष्टि के सम्मुख भी नहीं लाना चाहता।

सती : मैं विवाह उन्हींसे करूंगी—दूसरे से नहीं।

दक्ष : मेरा इतना अपमान ! मेरी ही लड़की मेरी विडम्बना करे ? सती, जिस दक्ष के मात्र इशारे पर इन्द्रादि देव नाचने लगते हैं, जिसके हाथ से हविर्भाव प्राप्त करने के लिए लक्ष्मीपति विष्णु भी उतावले होकर हाथ फैलाते हैं, जिसकी शूरता के स्मरण से ही दैत्य कांप उठते हैं। सब देवों को एक ओर हटाकर, नूतन जगत की सृष्टि का भार विधाता ने जिस पर सौंपा है, उस दक्षप्रजापति की लड़की यदि भिखारी के गले में वरमाला पहनाये तो क्या यह तुझे उचित प्रतीत होगा ? भिखारी का श्वसुर होने में मेरे ऐश्वर्य और प्रतिष्ठा की जो क्षति होगी, क्या उसकी तुझे कोई परवा नहीं ? हिमालय के उच्च शिखर से लेकर विशाल समुद्र के छोर तक तेरे कारण—केवल तेरे दुराग्रह के कारण, भिखारियों का साम्राज्य फैलने लगे तो विधाता द्वारा अपने मानस-पुत्र को दिये गए अधिकार क्या धूल में नहीं मिल जायंगे ? सती, मेरी प्यारी सती, ऐसा हठ मत कर। कम-से-कम अपने पिता के कल्याण के लिए ही अपना यह दुराग्रह छोड़ दे।

सती : पिताजी, मैं यह कभी नहीं चाहूंगी कि आपका अपमान हो।

आपके मन को चोट पहुंचाने से मुझे कभी आनंद न होगा। परंतु मैं यदि शंकरजी से विवाह करती हूं तो उसमें आपका अपमान कैसे होता है, यही मैं नहीं समझ पा रही हूं। आप जो 'ऐश्वर्य-ऐश्वर्य' कह रहे हैं, वह क्या है ? सुवर्ण, मोती, हीरे, माणिक और बहुत हुआ तो अधिकार ! बस यही न ? सुवर्ण और हीरे-मोती आदि मुझे पसंद नहीं। अधिकार की मुझे लालसा नहीं। आपके ऐश्वर्य में सुख है, ऐसा मुझे नहीं लगता। मेरा मत गलत हो सकता है—शायद वह ठीक होते हुए भी आपके मत से मेल न खाता हो। पर क्या सिर्फ इतने-से मतभेद के कारण ही आप अपनी बेटी के जीवन का सत्यानाश कर देंगे ? आप जिसे उचित समझते हैं, वह मुझे भी उचित समझना चाहिए, ऐसा सृष्टि का कोई नियम नहीं। जिस सृष्टि-नियम से आपका आविर्भाव हुआ, उस सृष्टि-नियम से मेरा जन्म नहीं हुआ। आप विधाता के मानस-पुत्र हैं। मैं मनु की लड़की की लड़की हूं, अर्थात मानवी हूं। सृष्टि का क्रम बदलने के लिए आपका अवतार हुआ है ओर उस कार्य के लिए आपको मेरा उपयोग कर लेना चाहिए।

दक्ष : मुझे क्या करना चाहिए, यह मुझे सिखाने का तुझे अधिकार नहीं। मुझे जो उचित जान पड़ेगा, वही मैं करूंगा और उसे करने से मुझे यदि स्वयं ब्रह्माजी भी रोकें तो उनकी भी मैं परवा न करूंगा। इसीलिए तुझसे कहता हूं कि कैलास के उस भूत के साथ मैं कल्पांत में भी तेरा विवाह नहीं करूंगा।

मन्मथ : देव, अब यह क्रोध छोड़िये। विवाह कोई आज ही तो होता नहीं। जिस समय वह मौका आयगा, उस समय देख लेंगे।

दक्ष : चुप रहो। जिस तरह अपनी लड़की का उपदेश सुनने को मैं तैयार नहीं, उसी तरह सेवक के शब्दों को भी मैं कोई महत्त्व नहीं देना चाहता।

प्रसूती : (सती से) इस समय अवश्य तूने मर्यादा लांघकर बातें की हैं। पिता को उपदेश देने का तुझे कोई अधिकार नहीं।

सती : इस घर की मर्यादा लांघकर जाने के लिए मैं तैयार ही बैठी हूं। लड़की हुई तो क्या हुआ? पुरुषों के पास जिस तरह मन है, उसी तरह वह स्त्रियों के पास भी है। यह मन जिसने बनाया है, उसका भी उस पर कोई अधिकार नहीं। मन जहां एक बार चला गया, सो चला गया। वह अब वहां से कभी नहीं लौटेगा। उसके लिए यदि मुझे ये प्राण भी देने पड़ें तो परवा नहीं। (परदे के भीतर से शंकरजी जोर से चिल्लाते हैं—'भिक्षांदेहि'।)

दक्ष : यह असमय भीख मांगनेवाला कौन है? जाओ मन्मथ, ऐसे सांझ के समय मेरे प्रासाद के महा-द्वार पर पुकार लगानेवाला इतना उद्दंड भिखारी आखिर कौन है, यह जाकर देखो तो!

मन्मथ : जो आज्ञा। (जाता है।)

दक्ष : जहां देखो वहां भिखारियों की ही भरमार है। न समय देखते और न असमय। हमेशा हाथ फैलाकर खड़े हो जाते हैं। जैसे हमने इनके बाप का कर्जा लिया है।

प्रसूती : भगवान ने हमें दिया है। उन्हें नहीं दिया, इसलिए वे हमारे द्वार पर आते हैं। उनका तिरस्कार करने से कैसे चलेगा! कुछ-न-कुछ सत्कार होना ही चाहिए।

दक्ष : ऐसों का सत्कार तो कोड़ों से ही करना चाहिए।

प्रसूती : पर मनु की आज्ञा क्या है?

दक्ष : आगईं अपने पिता का पक्ष लेकर। छोड़ो इन भिखारियों की बात। इन भिखारियों से मुझे अब और भी अधिक घृणा होने लगी है। भिखारियों के कारण ही इस सती की बुद्धि भ्रष्ट हो रही है। एक भिखारी के कारण ही... (परदे में 'भिक्षांदेहि' की पुकार—मन्मथ आता है।) मन्मथ, तुमसे क्या कहा था मैंने?

मन्मथ : देव, बाहर एक भिखारी आया है, ऐसा द्वारपाल कहता है।

दक्ष : फिर अभी तक वह क्यों चिल्ला रहा है?

मन्मथ : वह देव से ही मिलना चाहता है।

दक्ष : भिखारियों से मिलने के लिए मेरे पास समय नहीं। उसे भिक्षा

देकर रास्ता दिखा दो।

मन्मथ : पर वह कहता है कि मेरी भिक्षा कोई साधारण नहीं, इसलिए स्वयं देव के पास मुझे ले चलो।

दक्ष : उसकी मनचाही भिक्षा न दे सकने को मैं कोई रंक नहीं। ये भिखारी सारी दुनिया को अपने समान ही समझते हैं। मुझसे मिलने की क्या आवश्यकता है उसे? जाओ, इस समय मेरा मन स्वस्थ नहीं। जो मांगे, वह भिक्षा उसे दे दो और विदा करो। जाओ।

मन्मथ : जो मांगे, वह भिक्षा दे दूं?

दक्ष : हां-हां, वह जो मांगे, दे दो। ये भिखमंगे आखिर मांगेंगे क्या? बहुत हुआ तो बहुत-सी जमीन मांग लेंगे या बहुत-सी गायें मांग लेंगे, इससे अधिक और क्या मांगेंगे?

मन्मथ : जीहां, इससे अधिक और क्या मांगेंगे? तो फिर जो वह मांगे, वह दे दूं उसे?

दक्ष : बार-बार क्या पूछ रहे हो जी? क्या तुम मुझे भी भिखारी समझ रहे हो? जाओ, जो मांगे, वह भिक्षा देकर उसे भगा दो। उसकी वह कर्कश पुकार पुनः मेरे कानों में नहीं पड़नी चाहिए।

मन्मथ : जो देव की आज्ञा! (जाता है।)

दक्ष : सती, अब तुझे अंतिम बार पूछना चाहता हूं। क्या तू स्वयंवर के लिए तैयार है?

सती : मैंने कब इन्कार किया है? मैं स्वयंवर ही चाहती हूं।

दक्ष : मतलब? क्या उस भिखमंगे के गले में माला डालना चाहती है?

सती : शंकरजी को मैंने मन से वर लिया है।

दक्ष : तेरा मन चाहे जिसे वर ले, पर कन्या-दान तो मैं ही करूंगा न?

सती : पर पिताजी, मेरी इच्छा यदि आप पूरी नहीं करें तो मैं किसके मुंह की ओर देखूं? आप चाहें तो मां से पूछ लें....

दक्ष : वह तुमसे भी अधिक मूर्ख है। तुझे छोड़कर उसे और दीखता

ही क्या है ? तू जो कहेगी, वही उसे सच लगेगा। मेरे सम्मान की उसे चाहे परवा न हो, लड़की की जिद पति के अपमान की अपेक्षा उसे चाहे अधिक प्रिय लगती हो, फिर भी यह दक्षप्रजापति कभी भी अपनी कन्या उस भिखारी को नहीं देगा। (परदे में—"दो-दो—अपनी कन्या दो।") कौन है यह उन्मत्त? बिना संकोच के 'अपनी कन्या दो'—'अपनी कन्या दो' कहनेवाला यह कौन नराधम है ? (मन्मथ आता है।)

मन्मथ : वही है—वही है—देव, यह वही है।

दक्ष : वही कौन ? अभी जो भिखारी पुकार लगा रहा था, वह ? (शंकरजी प्रवेश करते हैं।)

सती : हां, यही हैं मेरे हृदयेश्वर। देखिये मा, पहले ईश्वर देखिये।

शंकर : दक्ष, दो, अपनी कन्या को मुझे दो।

दक्ष : मन्मथ, यह भिखमंगा भीतर कैसे आया ?

मन्मथ : आपकी आज्ञा से।

दक्ष : मेरी आज्ञा से ? मैंने इसे भीतर आने की आज्ञा कब दी ?

मन्मथ : जो यह मांगे, वह इसे देने के लिए आप ही ने कहा था न ?

दक्ष : फिर भिक्षा देकर इसे रास्ता क्यों नहीं दिखा दिया ?

शंकर : दक्ष, तुम्हारी यह कन्या—यही मेरी भिक्षा है।

दक्ष : अरे घमंडी, याद रख, दक्ष तेरे जैसा पागल नहीं है।

मन्मथ : जब मैंने इससे कहा कि आपका आदेश है कि मनचाही भिक्षा उसे मिलेगी, तब यह बोला...

शंकर : दो—दो, अपनी कन्या दो। वह देखो, मेरी प्रतीक्षा करती हुई वहां खड़ी है।

प्रसूती : आइये, कैलासनाथजी, इस आसन पर बिराजिये।

दक्ष : मन्मथ, द्वारपाल को बुलाकर इसे धक्के मारकर बाहर निकाल दो।

मन्मथ : जो आज्ञा। (जाने लगता है।)

प्रसूती : ठहरो मन्मथ। यह क्या कर रहे हैं, देव ? हम लोग गृहस्थ हैं। अतिथि हमारे लिए ईश्वर जैसे होते हैं। कैसा भी हो, पर

अतिथि हमेशा सम्माननीय ही है । आइये कैलासनाथजी, इस आसन पर विराजिये । (शंकरजी बैठ जाते हैं ।)

दक्ष : नहीं, भिखारी के गंदे स्पर्श से दक्षप्रजापति का आसन अपवित्र नहीं होना चाहिए । मन्मथ, मेरी आज्ञा का पालन करो ।

सती : वचन-भंग करके क्या अतिथि की अवहेलना होगी यहां ? खबरदार, मन्मथ....

दक्ष : सती, तू मेरा अपमान कर रही है ।

सती : वचन-भंग की नींव पर यदि दक्षप्रजापति नये संसार की स्थापना कर रहे हैं तो ऐसा नया संसार बिल्कुल अस्तित्व में ही न आये तो अच्छा !

दक्ष : वचन-भंग ? कपट करके लिया गया वचन यदि भंग हो जाय तो क्या बुरा ? यदि मुझे मालूम होता कि दरवाजे पर खड़ा भिखारी यह है तो मैं भीख देने से ही इन्कार कर देता ।

सती : ओर ऐसा करने से प्रजापति के ऐश्वर्य की बड़ी कीर्त्ति फैल जाती ! है न ?

दक्ष : मन्मथ, तुमने इस भिखारी को कैलास पर देखा था न ? फिर मुझे ऐसा क्यों नहीं बताया ?

मन्मथ : मैं स्वयं द्वार पर नहीं गया था । द्वारपाल ने मुझे जो खबर दी, वही मैंने आप तक पहुंचा दी । दक्षप्रजापति के अनुचर महादेव को नहीं पहचानते ।

सती : इसे ही कहते हैं भवितव्यता ! जहां ऐश्वर्य की स्पर्धा हुई कि विकारवशता ऐन मौके पर इसी प्रकार दगा दे देती है ।

दक्ष : तब तो यह तेरी ही चाल जान पड़ती है । यह कुछ नहीं । इस पहाड़ी गिद्ध का मैं मुंह भी नहीं देखूंगा ।

सती : नहीं, एक बार देख ही लीजिये । प्रतिक्षण घोर अपमान हो रहा है, फिर भी प्रशान्त रहनेवाला इनका मुखमंडल देखिये । सहनशील केवल दो ही होते हैं । एक प्रेमी और दूसरा भिखारी । इनमें दोनों का संयोग हो गया है ।

मन्मथ : (स्वगत) अब यह मामला भड़केगा ! मायावती को यहां

और ले आऊं कि इस वाग्यज्ञ की पूर्णाहुति हो जायगी। यहां से जाते-जाते यह भी काम कर दूं। (जाता है।)

प्रसूती : देव, अतिथि की पूजा कीजिए न।

दक्ष : क्या बक रही हो? इस भिखारी की पूजा मैं करूं! जो मस्तक विधाता को छोड़कर और किसी के भी आगे नहीं झुका, उस अपने मस्तक को क्या इस भिखारी के राख से भरे पैरों पर रखूं? जिस दक्ष का चरणोदक लेकर सारा जगत पवित्र होता है, वह दक्षप्रजापति क्या इस जोगड़े के चरण पखारे? विधाता द्वारा अर्पण किया हुआ यह अनमोल रत्न-जटित सुवर्ण मुकुट जिस मस्तक पर झलक रहा है, अपने उस मस्तक को इस पिशाच के चरण-स्पर्श से क्या मैं भ्रष्ट कर दूं? नहीं, देवी, नहीं। यह मस्तक भले ही टूटकर गिर पड़े, पर दक्षप्रजापति अपना वैभव नहीं भूलेगा।

सती : तो क्या आप अतिथि का अपमान करेंगे? और अतिथि भी कौन है? यह वह अतिथि है कि जब दक्षप्रजापति की कन्या उसके घर गई थी, उस समय उसने उसका अनाहूत स्वागत किया, उसे बड़प्पन दिया, निरपेक्ष भाव से उसका आतिथ्य-सत्कार किया। उसीका अपमान यदि दक्षप्रजापति ने किया तो संसार को एक अद्वितीय शिक्षा ही मिलेगी! है न?

दक्ष : अतिथि के बहाने तू मुझे शत्रु के आगे गर्दन झुकाने के लिए बाध्य करना चाहती है। इतना ही तेरा उद्देश्य है। पर कान खोलकर सुन ले—मैं इस अतिथि की पूजा नहीं करूंगा, नहीं करूंगा!

सती : तो क्या आप अपना वचन-भंग कर देंगे?

दक्ष : वचन-भंग? शंकर, मैं अपना आधा राज्य तुझे देता हूं। तू मुझे वचन से मुक्त कर दे।

शंकर : सती के आगे मेरे लिए त्रिभुवन का साम्राज्य भी तुच्छ है।

दक्ष : रे पिशाच, जादू-टोना करके तूने मेरी लड़की को पागल कर दिया है, इसमें संदेह नहीं, अन्यथा प्रजापति की कन्या ऐसे भिखारी पर कभी मोहित न होती।

सती : प्रेम का वीन बजते ही जो न झूमने लगे, ऐसी स्त्री त्रिभुवन में भी नहीं मिलेगी। पिताजी, स्त्रियों के हृद्गत का पता पुरुषों को कभी नहीं चल सकता। वे उसे कभी समझ ही नहीं सकते। प्रेम ही स्त्री का सर्वस्व होता है। प्रेम को रंक का ऐश्वर्य जितना अच्छा लगता है, उतनी ही आपके धनी ऐश्वर्य की लालसा तिरस्करणीय लगती है।

प्रसूती : देव, इस दीन दासी की विनती सुनिये। कम-से-कम बेटी के कल्याण के लिए तो वचन-भंग न कीजिये।

दक्ष : वचन का पालन करके क्या इस भूत से रिश्तेदारी जोड़ूं? इस पहाड़ी गिद्ध का श्वसुर बन जाने पर दुनिया में मेरा नाम खूब ही फैल जायगा? क्यों? सती, यह हठ छोड़ दे।

सती : प्रतिकार करने की पूर्ण सामर्थ्य रखते हुए भी अपने प्रेम के लिए निर्विकार मन से जो इतना अपमान सहन कर रहे हैं, उनके लिए यह दाक्षायणी ऐश्वर्यशाली पिता का ही त्याग कर देगी। देखिये पिताजी, देखिये इस धीरगंभीर मूर्त्ति की ओर। पहले आप अपना हठ छोड़िये।

(मायावती मन्मथ को एक तरफ हटाकर प्रवेश करती है।)

माया : महादेव की जय!

दक्ष : इस दक्ष प्रजापति के सामने न कोई देव है और न कोई महादेव ही है।

माया : पितामह ब्रह्माजी वचन भंग करनेवाले को इसके आगे प्रजापति के पवित्र पद पर रखें रहें, ऐसा कभी नहीं होगा। वह अपना यह अधिकार कभी नहीं भूलेंगे।

दक्ष : वचन-भंग! अरेरेरे! गृहस्थाश्रम ने आखिर मुझे धोखा दिया, क्या करूं? अब क्या करूं?

माया : अपने वचन का पालन करो।

दक्ष : समझ गया! यह भवितव्यता नहीं, यह घर-भेदी का षड़यंत्र है। यह वचन-पालन नहीं, कपट की बलि है। यह उदारता नहीं, बल्कि मेरे वैभव पर डाका डालने का पैशाचिक

प्रयत्न है। मायावती, मायावती, यदि तुम यह सोच रही हो कि मेरे वचन-भ्रष्ट हो जाने से पितामह ब्रह्माजी मुझे पदच्युत कर देंगे तो यह तुम्हारा भ्रम है। फिर भी मैं तुम्हारा उद्देश्य सफल नहीं होने दूंगा। तुम यह न समझ लेना कि मेरे पदच्युत हो जाने पर इस भूत को वह पद मिल जायगा। तुम्हें इस आशा के लिए अवसर ही क्यों दूं ? मुझे अपने ऐश्वर्य की परवा है। लड़की के कल्याण की नहीं। देवी, तुमने अनुमति दे ही दी है। सती नें तो कन्यादान करने तक ही पिता का पितृत्व माना है। ठीक है। शंकर, मैं अपनी कन्या तुझे देता हूं। परंतु स्त्रीधन के रूप में मनुजी के नियमानुसार उसे तू क्या देगा ?

शंकर : मैं अपना सर्वस्व ही उसे दे दूंगा।

दक्ष : तेरा सर्वस्व ? भिक्षा-पात्र, वाघ का चमड़ा, रुद्राक्ष की माला, लोहे का त्रिशूल और जटा के जंतु, यही तेरा सर्वस्व है !

शंकर : अपना हृदय ही मैंने सती को दे दिया है।

माया : तुम धन्य हो सती। पति का हृदय जिसे स्त्री-धन के रूप में मिलता है, वह प्रजापति के सिंहासन को भी ठुकरा देगी। दक्ष, तुम्हारी सती बड़ी भाग्यशालिनी है। उसे रंक का जो ऐश्वर्य आज मिल रहा है, उसके आगे तुम्हारा ऐश्वर्य कुछ नहीं है। जाओ, कन्यादान की तैयारी करो।

दक्ष : कन्यादान ? आजतक सती नाम की मेरी एक लड़की थी। आज वह मर गई है। यह कन्यादान नहीं, यह उसकी उत्तर-क्रिया है। उसका शव इस पिशाच को सौंपकर अब मैं मुक्त हो जाऊंगा।

माया : दक्ष, अगर यह किसी की उत्तर-क्रिया होगी तो वह होगी तुम्हारे ऐश्वर्य की। जिसके बल पर तुम प्रजापति हुए हो, वह शक्ति आज कैलासवासी होगी। शिव-शक्ति का यह संयोग सारे संसार का मंगल करेगा, परंतु इस कन्यादान के बारे में अमंगल शब्द कहनेवाले तुम्हारे मुख को अवश्य भयंकर धोखा देगा।

दक्ष : बस, सुन चुका ! बस करो तुम्हारा यह भविष्य—जाओ देवी, कन्यादान की तैयारी करो ।

शंकर : अहा हा ! आज मैं पूर्ण हो गया ।

(पर्दा गिरता है ।)

तृतीय अंक

दृश्य एक

(दक्ष और मायावती)

दक्ष : प्रजा जब मुझसे पूछती कि मायावती कौन है, तब मैं यही उत्तर देता कि प्रसूती के विवाह के दिन मायावती नाम की एक योगिनी स्वयंभू मनु के घर से मेरे प्रासाद में रहने आई। परंतु अब मेरे सम्मुख ही यह प्रश्न उपस्थित हो गया है कि सारे विश्व का शासन करनेवाले दक्ष को बुद्धिवाद सिखानेवाली तुम कौन हो ?

माया : मैं कौन हूं ? मैं कोई नहीं। आप कोई हैं—प्रजापति हैं। प्रसूती कोई है—वह दक्ष की रानी है। कश्यप कोई हैं—वह दक्ष के राजपुरोहित हैं। मन्मथ भी कोई है, रति भी कोई है। परंतु मैं ? मैं कोई नहीं हूं। इसलिए सारे संसार का मुझ पर अधिकार है, क्योंकि मैं एक भिखारिन हूं और इसीलिए सारे संसार का कल्याण देखने का मुझे अधिकार है।

दक्ष : ठीक है। फिर मजे से सारे संसार का कल्याण देखती रहो। पर दक्ष प्रजापति को बुद्धिवाद सिखाने का साहस क्यों करती हो ?

माया : संसार का कल्याण हो, इसलिए आपको बुद्धिवाद बताने के लिए मुझे बाध्य होना पड़ता है। प्रजापति दक्ष, यह यज्ञ करके आप कौन-सा पुरुषार्थ साधना चाहते हैं ?

दक्ष : मुझे अपने अपमान का बदला लेना है और इसलिए नाश का विनाश करने के लिए मुझे विवश होना पड़ा है। हिमालय के उस वैताल का अधिकार जबतक नष्ट नहीं हो जाता, तबतक मुझे संतोष न मिलेगा।

माया : क्या आप दामाद से बदला लेंगे ? दक्ष, अपनी बेटी के पति का

अकल्याण करके आप पिता के वात्सल्य का कौन-सा आदर्श उपस्थित करना चाहते हैं ?

दक्ष : मायावती, उस पहाड़ी भूत के प्रति मुझे पहले से ही घृणा थी। सती के दुराग्रह के कारण वह मेरा दामाद हुआ। कालांतर से उसके प्रति मेरा क्रोध शान्त भी हो जाता, परंतु मायावती, उसका घमंड दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा। मेरी समझ में नहीं आता कि इन दरिद्रियों को अपनी दरिद्रता से ही इतना प्यार क्यों होता है ? थोथे अभिमान को छोड़कर यदि वह मेरी शरण आ जाता तो अपनी बेटी के पति के नाते मैं उसे आश्रय दे देता। परंतु जब मुझे भृगु ऋषि के यज्ञ की याद आ जाती है, तब उसमें उसके द्वारा हुआ मेरा अपमान आंखों के सामने मूर्त हो उठता है और मेरे तन-बदन में आग लग जाती है। इसी आग को शान्त करने के लिए मुझे इस यज्ञ की धधकती हुई अग्नि जलानी पड़ रही है।

माया : तो क्या आप सोचते हैं कि आग से आग शांत हो जायगी ? दक्ष, महादेव ने भृगु ऋषि के यज्ञ में आपका क्या अपमान किया ?

दक्ष : यह प्रश्न ही मुझे दुस्सह हो उठता है। उस प्रसंग की स्मृति को मैंने द्वेष की प्रचंड शिला के तले अपने हृदय में दबाकर रख दिया है। उसके उच्चार करने के लिए उस शिला को हटाकर दूर कर देना होगा। द्वेष की उस शिला को यज्ञ-भूमि की कोनशिला बनाकर, अब मैंने यह यज्ञ आरंभ किया है। मायावती, इस यज्ञ के कारण मुझे जितना आनंद होता है, उतना ही उस यज्ञ का स्मरण होते ही मुझे क्रोध हो आता है। भृगु ऋषि के यज्ञ-मंडप में मेरे प्रवेश करते ही सारे देव, मानव, यक्ष और गंधर्व आदि ने मेरा जो अकल्पनीय स्वागत किया, वह तुम देखतीं तो तुम्हें भी मुझ जैसा ही लगता। स्वयं भृगु ऋषि मंडप के द्वार पर उपस्थित हुए और अपने देवतुल्य हस्त का आधार देकर उन्होंने मेरा स्वागत किया। गंगा, यमुना और सरस्वती जैसी पवित्र नदियों ने अपने जगत्पावन जल से मेरे चरण धोये। स्वयं

विश्वदेव ने मेरी दीठ उतारी। मुख्यासन पर आरूढ़ होने के लिए मेरे आगे बढ़ते ही सभी ने मेरे नाम की इतनी प्रचंड जय बोली कि सारा त्रिभुवन हिल उठा। पर क्या? प्रलय काल का क्षुब्ध सागर जिस तरह एकदम शान्त हो जाय, उसी तरह उस जय-ध्वनि की उद्दाम लहरें उस समाज-सागर में उमड़ते-उमड़ते सहसा विलुप्त हो गईं। यह क्यों हुआ? इसका कारण था—राख से पुते हुए उस जोगड़े के मैले-कुचैले चेहरे पर की एक हल्की-सी हास्य रेखा।

माया : अच्छा, तो कुल मिलाकर आपने यह धारणा बना ली है कि महादेव को आपके ऐश्वर्य से ईर्ष्या हुई।

दक्ष : नहीं, यदि उसे ईर्ष्या होती तो मुझे आनंद ही होता। नहीं, मायावती, उसे ईर्ष्या नहीं हुई। तिरस्कार-भरी हास्य की छटा से उसने मुझपर दया दिखाई। मेरे ऐश्वर्य के तूफान को हास्य की केवल एक फूंक से अगूं ा दिखाकर उड़ा दिया। ये भिखारी यदि हमसे ईर्ष्या करें तो हमें आनंद ही होगा। परंतु ये कंगाल हमारे ऐश्वर्य की उपेक्षा न करके उल्टे उस ऐश्वर्य का मूल्य ही घटिया सिद्ध करना चाहते हैं। इसी पर हमें क्रोध आता है।

माया : ऐश्वर्य की उपेक्षा करना, यही हम भिखारियों का बाना है। पर दक्षराज, आप उसी समय अपने अपमान का बदला लेने की स्वाभाविक लालसा कैसे रोक पाए?

दक्ष : इतना अपमान होने के बाद क्या उसी समय उससे बदला लेना मैं छोड़ देता? मैंने उसे एकदम वहीं शाप दे दिया।

माया : अच्छा! श्वसुर ने दामाद को शाप भी दे दिया?

दक्ष : यह तो उस पगले का भाग्य था, जो उसे केवल इतना ही शाप देकर कि अन्य देवताओं की बराबरी से यज्ञ का हविर्भाग उसे न मिले, मैं उस समय चुप रह गया। मायावती, उस समय मैंने शाप दिया, पर अब उस शाप के उद्यापन के लिए मैं यह यज्ञ करूंगा। पितामह ब्रह्माजी की कृपा से उत्पत्ति करने का अधिकार मुझे प्राप्त हुआ है। स्थिति का कर्त्ता बेचारा विष्णु मेरे भय से

सर्प की कुंडली पर लोट रहा है। इस जोगड़े के पास प्रलय करने का अधिकार है और सिर्फ इसीका उसे बड़ा घमंड है। इस यज्ञ से मैं उस प्रलय का ही प्रलय कर ूंगा—नाश का ही विनाश कर दूंगा। पृथ्वी अनंत है, उत्पत्ति अनन्त है, काल भी अनन्त है। फिर अनन्त जीवों को अनन्त काल तक इस अनन्त विश्व में क्यों नहीं रहना चाहिए? मायावती, सोचकर हो, चाहे बिना सोचे हो अथवा चाहे अविचार से हो; पर इस कार्य में मैंने अब हाथ डाला है। इसे पूरा करने में चाहे मेरा मस्तक टूटकर गिर पड़े, फिर भी अब मैं पीछे नहीं हटूंगा। तुम्हारा बुद्धिवाद व्यर्थ है।

माया : कैसा पागलपन है यह। काल-चक्र की अबाधित गति को जो रोकना चाहेगा, वह उस चक्र के एक धमाके के साथ स्वयं ही कुचल जायगा। वह गति अविच्छिन्न है और इसीलिए उसे बंद करने का प्रयत्न करना स्वयं अपना ही नाश कर लेना है। वह ईश्वर की शक्ति है और इतनी जाज्वल्य है कि उस पर पूरा नियंत्रण रखना स्वयं उसे भी कठिन हो जाता है। ईश्वर बहुत बड़ा है और आप उसी के अधिकार को समाप्त कर देने पर तुले हैं। पर सावधान, कहीं ऐसा न हो कि इस प्रयत्न में आपको ही अपनी आहुति दे देनी पड़े। शंकरजी का नाश क्या आपकी बेटी के लिए ही वैधव्य नहीं?

दक्ष : अपने ऐश्वर्य की पुष्टि के लिए अपनी लड़की के सुहाग की आहुति देना भी मैं पुरुषार्थ समझूंगा। अपने नये संसार को मुझे यही शिक्षा देनी है।

माया : जिस संसार में ऐश्वर्य की पुष्टि के लिए अपनी पुत्री की भी बलि दी जाय, उस संसार को आग लग जाय, तो अच्छा।

दक्ष : भिखारियों के मुंह से ऐसे ही उद्‌गार निकलेंगे। मैं ऐसा विश्व निर्मित करना चाहता हूं, जो अबाधित गति से बढ़ता रहे—जिसकी सत्ता अमर्यादित रहे और गति निर्बंध हो। जब ऐसे विश्व पर मैं अपनी इच्छानुसार शासन करने लगूंगा, तभी मेरा ऐश्वर्य

सार्थक होगा । जाओ मायावती, तुम्हारा बुद्धिवाद मैं काफी सुन चुका ।

माया : दीपक की ज्योति पर मर मिटनेवाले पतंग को बचाने के लिए दीप बुझाकर क्या आप संसार में अंधेरा कर देना चाहते हैं ? दक्षराज, आपकी जो इच्छा हो, सो कीजिये, परंतु उसके फल भोगने के लिए भी तैयार रहिये । (जाती है ।)

दक्ष : (स्वगत) भिखारियों की बुद्धि भी भिखारी होती है और उनका बुद्धिवाद उससे भी अधिक भिखारी होता है । जितना ऐश्वर्य इस समय मेरे पास है, उसी पर मैं संतोष क्यों मानूं ? मैं अपने संसार को विस्तृत करूंगा और इसीलिए मुझे पहले प्रलय को नष्ट कर देना चाहिए। लड़की यदि विधवा होती है तो हो जाय । मुझे उससे कोई मतलब नहीं । उसे भी अपने कर्म का फल भोगना चाहिए। उसके सुख के लिए मैं अपने ऐश्वर्य की बाढ़ क्यों रोकूं ? उसने भी कहां मेरी बात मानी थी ? जब उसने मेरे अधिकार को ठुकरा दिया, तब मैं क्यों उसके लिए अपने अपमान को अलंकार मानकर चुप बैठूं ? यदि मृत्यु आ जाय तो कोई परवा नहीं । संसार से मृत्यु शब्द जबतक मैं समाप्त नहीं कर दूंगा, तबतक मैं नहीं मरूंगा । प्रलय के ऐश्वर्य का संपूर्ण नाश हो जाने पर वह घमंडी जोगड़ा जिस समय हिमालय के शिखर से भागकर कन्याकुमारी के रेतीले किनारे पर धूल खाता पड़ा रहेगा, तब उसे अच्छी तरह मालूम हो जायगा कि दक्षप्रजापति को अपमानित करने का फल क्या होता है ? मेरा दामाद ! कैसा मेरा दामाद ! जिस दिन यह भिखारी के श्वसुर की पदवी नष्ट होगी, उसी दिन, सच्चे अर्थ में, दक्ष-प्रजापति के पुरुषार्थ की परमावधि होगी । यह यज्ञ होना ही चाहिए और उसमें शंकर की आहुति पड़नी ही चाहिए । (जाता है ।)

दृश्य दो

(भृंगी और मृंगी एक गंधर्व को पकड़कर लाते हैं।)

भृंगी : बता, तू कौन है ? कन्या है, या पत्नी ?

गंधर्व : मैं कन्या नहीं, परंतु मेरी कन्याएं हैं और पत्नियां भी हैं।

भृंगी : तेरे कन्या है ? तो क्या तू दक्षप्रजापति है ?

मृंगी : नहीं जी, यह कैसे दक्षप्रजापति होगा ? यह तो मन्मथ जैसा दीखता है।

गंधर्व : (स्वगत) कम-से-कम इसने तो मुझे मन्मथ कहा। तो क्या गंधर्वलोक में सब लोग मुझे व्यर्थ ही कुरूप कहते हैं ?

भृंगी : क्यों रे, बोलता क्यों नहीं ?

गंधर्व : क्या बोलूं ?

भृंगी : कुछ भी बोल। न बोलने वाले प्राणी मुझे बिल्कुल नहीं भाते। पहले यहां एक मन्मथ नामक प्राणी आया था। खूब बोलता था। वह हमारे लिए एक मां ले आया। तू जानता है, मां किसे कहते हैं ?

गंधर्व : (स्वगत) हम गंधर्वों की कहां से आई मां ? (प्रकट) मैं नहीं जानता।

मृंगी : तू झूठ बोलता है। जब कि तू मन्मथ है तब तुझे यह अवश्य मालूम होना चाहिए कि मां क्या है ?

गंधर्व : (स्वगत) अब क्या करूं ? इसे कैसे समझाऊं ?

भृंगी : बोल-बोल, जल्दी बोल। कह मां।

गंधर्व : मां।

भृंगी : बता अब। कैसा लगा तुझे ? क्या 'मां' कहते ही तुझे आनंद नहीं आया ?

गंधर्व : हां आया तो।

भृंगी : क्यों आनन्द आया ?

गंधर्व : तुम्हें आनन्द आया, इसलिए मुझे भी आया।

भृंगी : हमें आनंद क्यों आया ? बोल मां कहते ही हमें आनंद क्यों आया ?

गंधर्व : (स्वगत) अब क्या बताऊं अपना सिर ? भगवान जाने ये मुझे अब दक्ष के यज्ञ में जाने देते हैं या नहीं । इन्हें यह पता ही न लगने देना चाहिए कि मैं दक्ष-यज्ञ में जा रहा हूं ।

भृंगी : क्या सोच रहा है, रे ? यह जानने के लिए कि मां कहते ही क्यों आनंद होता है, क्या इतना सोचना पड़ता है ? अच्छा, एक बात तो सिद्ध हो गई कि मां क्या होती है, यह तू नहीं जानता । अब बता तेरी स्त्री है ?

गंधर्व : मेरी बहुत-सी स्त्रियां हैं ।

भृंगी : क्या वे सब स्त्रियां तुमसे मिलती हैं ?

गंधर्व : हां, मिलती हैं ।

भृंगी : अरे वाह, क्योंजी भृंगी, फिर यह प्राणी कितने गुना पुरुष हुआ ?

गंधर्व : मैं केवल एक ही पुरुष हूं ।

भृंगी : तू मन्मथ है । हमें तेरा सच्चा पता न चल पाये, इसलिए तू गप मार रहा है । पर याद रख, हम अब सब समझने लगे हैं । पहिले जैसे जंगली नहीं रहे ।

भृंगी : इस रास्ते से तू कहां जा रहा है ?

गंधर्व : इस रास्ते से मैं दूसरे रास्ते की ओर जा रहा हूं ।

भृंगी : फिर तू अभी ऊपर हवा में तैरता हुआ क्यों जा रहा था ? और तेरे साथ जो थे. वे सब कौन थे ? वे सब तेरे जैसे ही दीख रहे थे ।

गंधर्व : उन्हें भी मन्मथ ही कह सकते हो ।

भृंगी : अच्छा, अब यह बता कि तेरे साथ की वे स्त्रियां कौन हैं ?

गंधर्व : वे सब रति हैं ।

भृंगी : वे तेरी कन्याएं हैं शायद ?

गंधर्व : नहीं-नहीं । वे सब मेरी पत्नियां हैं ।

भृंगी : याने वे अपने पिताओं की कन्याएं हैं ? यही मतलब है न ?

गंधर्व : (स्वगत) अब इस पागल को कैसे समझाऊं ? इसके हाथों से छुटकारा पाना अब संभव नहीं दीख पड़ता । अब कहां का

दक्ष-यज्ञ ?

शृंगी : क्यों रे, बोलता क्यों नहीं ? क्या तू यह नहीं जानता कि कन्या के पिता होता है ? सुन, मैं तुझे बताता हूं । स्त्री के यदि पिता हुआ तो वह कन्या होती है, पति हुआ तो वह पत्नी होती होती है और उसका विवाह होने के बाद उसे अगर शृंगी, भृंगी और नन्दी का लालन-पालन करना पड़ा तो वह मां होती है । समझा ?

गंधर्व : हां, समझ गया । अब कृपाकर मुझे छोड़ दो न ?

भृंगी : अरे मन्मथ, तेरा धनुष कहां है ? उसकी जगह यह लकड़ी का लोढ़ा क्यों अटका रखा है गले में ?

शृंगी : अरे वाह रे भृंगी, तुझे इतनी भी अक्ल नहीं ! जब नंदी बहुत ऊधम मचाता है तब मां उसके गले में लकड़ी का इसी तरह एक मोटा-सा लोढ़ा अटका देती है । यह तो तूने देखा है न ? यह भी नंदी की तरह ऊधम मचाता होगा इसलिए इसकी मां ने इसके गले में यह लोढ़ा अटका दिया है । (गंधर्व से) पर क्यों रे मूर्ख, इतनी स्त्रियों के लोढ़े तेरे गले में बंधे हैं, फिर भी तू ऊधम मचाने से बाज नहीं आता शायद ?

गंधर्व : अजी, यह मेरी वीणा है । इसके सुर में गाता हूं ।

शृंगी : गाने के लिए वीणा के सुर की क्या आवश्यकता ? मैंने अपने महादेव को गाते सुना है । जब देवदार के वृक्षों की शाखाओं में से हवा बहने लगती है, तब उसके सुर में सुर मिलाकर देव गाने लगते हैं । गाना मैं भी जानता हूं । उसमें धरा ही क्या है ? जितना संभव हो सके, उतना मुंह खोल दो और खूब हाथ नचाकर आ SSSS ऊ SSSS चिल्लाओ कि हो गया गाना ।

गंधर्व : हां, बिल्कुल ठीक है । पर अब मुझे मुक्त कर दो न ?

भृंगी : तू मन्मथ है न ? फिर क्या महादेव का दर्शन किए बिना ही चला जायगा ? कहां जायगा तू ?

गंधर्व : वे बाकी के मन्मथ गये हैं, उन्हीं के साथ मुझे भी जाना चाहिए ।

शृंगी : पर तू तो दूसरे रास्ते की ओर जानेवाला है न ?

गंधर्व : तुम बिल्कुल ठीक कह रहे हो। पर अब मुझे जाने दो न ? मेरी सब पत्नियां आगे चली गई हैं। वे मेरी प्रतीक्षा कर रही होंगी।

भृंगी : यह सोचकर कि तुम पकड़ लिये गए होगे, वे आगे बढ़ जायंगी ?

गंधर्व : नहीं-नहीं वे ऐसा कभी नहीं करेंगी। वे मेरी पत्नियां जो हैं।

शृंगी : क्यों भाई भृंगी, क्या छोड़ दूं इसे ?

भृंगी : मैं सोचता हूं, इसे देव के पास ले चलें। इसने हमारी सारी फसल रौंद डाली है। इसे दण्ड मिलना ही चाहिए।

गंधर्व : हम कुबेर के मन्मथ हैं। हम सिर्फ धन पहचानते हैं। हमारा अनाज से कोई परिचय न होने के कारण, भूल से मैंने तुम्हारी फसल रौंद दी। इसके लिए मुझे क्षमा कर दो।

शृंगी : क्या कहा ? तुमने अनाज नहीं देखा ? फिर खाते क्या हो ?

गंधर्व : हम कुछ भी नहीं खाते।

भृंगी : कंद-मूल भी नहीं ? हम लोग पहले कंद-मूल खाते थे, परंतु मां के आने के बाद से अनाज खाने लगे।

गंधर्व : मनुष्य खाते हैं। हम पीते हैं। केवल अमृत पीते हैं।

भृंगी : अमृत ? यह क्या होता है ?

गंधर्व : वह पानी की तरह होता है और उसमें फूलों की तरह सुगंध होती है। तुम यदि मुझे मुक्त कर दो तो तुम्हारे लिए अमृत ला दूंगा।

शृंगी : यह तो हमें अपनी मां से पूछना पड़ेगा। मां जो देती है, वही हम खाते और पीते हैं।

गंधर्व : तो जाओ और मां से पूछकर आ जाओ। पर अब मुझे छोड़ दो न ? मेरी पत्नियां मेरे लिए वहां रुकी होंगी।

भृंगी : हां, यह बात तो जरूर होगी। हमारी मां जब दूर चली जाती है, तब महादेव भी इसी तरह तड़पते हैं। शृंगी, अब छोड़ दो इसे।

शृंगी : अच्छा, तो जा। पर अब आगे हमारी फसल इस तरह कभी मत रौंदना। समझा ?

गंधर्व : भगवान तुम्हारा भला करे। (स्वगत) तो कुल मिलाकर दक्ष

यज्ञ का अपूर्व समारोह मुझे देखने को अब मिल जायगा । उस यज्ञ से प्रलय का संहार हो जाने पर प्रलय-कर्ता के इन गणों से हमें फिर कोई कष्ट न होंगे । हम लोगों के पीछे लगी यह संहार की झंझट हमेशा के लिए जाती रहेगी । तब हम सारे विश्व में छा जायंगे और सब लोगों को गाने के लिए बाध्य कर देंगे । (जाता है ।)

भृंगी : देखा, अब हम कितने होशियार हो गए हैं ? अब मन्मथ भी हमसे डरने लगा है । यह सब मां की शिक्षा का प्रभाव है । पर क्यों रे भृंगी, वह जाते-जाते अभी क्या बुदबुदा रहा था ?

भृंगी : कुछ भी बकता हो । हमें उससे क्या करना ? अब तुम सीधे मां के पास चले जाओ और उनसे यह सब हाल कह दो । मैं यहीं बैठे-बैठे फसल की रखवाली करता हूं । जाओ । (भृंगी जाता है ।)

दृश्य तीन

सती : (स्वगत) पिताजी कहा करते थे कि दरिद्रता में सुख नहीं । (हंसकर) ठीक तो है । बिना अनुभव के वह कैसे जान सकते हैं कि दरिद्रता में सुख है या नहीं ? सुख की सीमा का अनुमान ऐश्वर्य से नहीं लगाया जा सकता । ऐश्वर्य में जहां देखो वहां बंधन । यह मत करो, वहां मत जाओ, यह तुम्हें शोभा नहीं देता—इस प्रकार के अनेकों बंधनों से हमें अपने आपको जकड़ लेना पड़ता है । ऐश्वर्य का बाना ही यह है कि जो दूसरे कहें वह सच और जो हमारा मन कहे वह झूठ । मुझे हिमालय देखने की इच्छा थी । पर पिताजी नहीं चाहते थे कि मैं हिमालय जाऊं । मुझे कितना गिड़गिड़ाना पड़ा । तब कहीं उनकी अनुमति मिली । वही यहां देखो, कितनी स्वतन्त्र हूं ! कहीं भी घूमूं, कोई बन्धन नहीं । किसी की अनुमति नहीं लेनी पड़ती । महादेव मुझे कहीं भी जाने से नहीं रोकते । मेरी इच्छा और उनकी अनुमति दोनों जैसे एक साथ ही उत्पन्न होती हैं । ऐसी स्थिति में मनु-

मति का प्रश्न ही नहीं उठता । मेरे भृंगी और भृंगी दोनों कितने स्नेहशील हैं । मेरे परे उन्हें जैसे दूसरा कुछ सूझता ही नहीं । मेरा शब्द उन्हें वेदतुल्य लगता है । यहां मन का स्वैर संचार और पैरों की गति दोनों जैसे एकरूप हो गए हैं । दरिद्रता की यह स्वतन्त्रता देखकर, सिंहासनस्थ प्रजापति के भी मुंह में पानी आ जायगा । गरीब बेचारा राजा ऐश्वर्य के बंधनों में चारों तरफ से बंधा होने के कारण जाले की मकड़ी की तरह अपने ही द्वारा निर्मित बंधनों में चक्कर काटता रहता है । यही मेरे पिता की भी स्थिति है । और मैं ? अहाहा ! मेरे जैसा धन्य कौन है ? स्वतन्त्रता के निर्मल वातावरण में स्वर्ग तक उड़ान लेनेवाले गरुड़ की तरह मैं अनिरुद्ध संचार कर रही हूं । ऐश्वर्य में क्या यह सुख मुझे कभी मिल सकता था ? मेरे पिताजी कितने भ्रम में थे ? मेरे लिए वह ऐश्वर्य खोज रहे थे । यह सुख, यह आनंद, यह निर्मल और अकृत्रिम प्रेम, यह अलोकिक सहवास; क्या ऐश्वर्य में मुझे कभी मिल पाता ? कितना मधुर सहवास है ? बंधन का यहां जैसे अस्तित्व ही नहीं है । बस, स्मरण करते ही देव (शंकरजी प्रवेश करते हैं) सामने आकर खड़े हो जाते हैं ।

शंकर : क्या सोच रही हो, देवि ? प्रिये, तुम जन्म से ही ऐश्वर्यशालिनी हो । हिमालय की पथरीली दरिद्रता से कहीं ऊब तो नहीं उठीं ? भावना के आवेश में प्रकृति की रमणीयता क्षण-भर के लिए मन को आकर्षित कर लेती है, पर जब मन वास्तविकता के संसार में लौट आता है, तब ऐश्वर्य की गतकालीन स्मृति दुःख देने लगती है । तुम्हें कहीं यही अनुभव तो नहीं हो रहा है ?

सती : यह आप क्या कह रहे हैं देव ? कम-से-कम आप को तो ऐसा नहीं कहना चाहिए ।

शंकर : क्यों नहीं कहना चाहिए ? इधर-उधर शून्य-दृष्टि से देखती हुई तुम दीर्घ निश्वास छोड़ने लगो, तब भी क्या मैं यह समझूं कि तुम आनंद में हो ?

सती : आनंद के निश्वास भी इसी प्रकार बड़े लंबे होते हैं, देव। आपके मन में यह शंका ही कैसे आई कि ऐसे स्वतन्त्र वातावरण में मुझे दुःख होगा ?

शंकर : नहीं देवि, मुझे शंका नहीं आई। पर यह सच है कि मुझे ऐसा आभास हुआ।

सती : आखिर आभास ही तो है। वह सच कैसे होगा ?

शंकर : ऐसा क्यों कहती हो ? देखो, जहां देदीप्यमान सुवर्ण तन्तुओं से बुने वस्त्रों से तुम्हारी संपूर्ण देह आच्छादित होती थी, वहां ये...

सती : सूर्य प्रकाश-से चमकनेवाले निर्मल वल्कल आ गए हैं। क्या ये बुरे लगते हैं देव ? देव, सुवर्ण तंतुओं का कड़ापन अब नहीं रहा। उसकी जगह सुवर्ण को भी लज्जित करनेवाले केले के ये तन्तु क्या अधिक मृदु नहीं हैं ?

शंकर : तुम्हारी देहलता के मार्दव की वे कभी बराबरी नहीं कर सकेंगे। और देखो, सुवर्ण के अलंकारों से सुशोभित होनेवाले तुम्हारे इन कर-पल्लवों पर...

सती : अब फूलों के आभरण अधिक सुशोभित दीख रहे हैं। देव, पल्लवों के अग्रों में पुष्पों का आना क्या स्वाभाविक ही नहीं ?

शंकर : मस्तक का रत्नजटित किरीट निकल जाने के कारण...

सती : हवा में इतस्ततः बिखर जाने का आदी केश-कलाप अब बंधन-मुक्त हो गया।

शंकर : हीरों और मोतियों की मालाओं से आच्छादित रहनेवाला यह शंख जैसा स्वच्छ कंठ...

सती : सूना-सूना लगता हो तो यह शंखधारी करमाला यदि इस तरह अपने गले में डाल लूं, तो क्या वह अधिक सुन्दर नहीं लगेगा ?

शंकर : नहीं-नहीं देवि, तुम अब मुझे पागल कर दोगी।

सती : पागल को और पागल कैसे बनाऊंगी ? हां, चलने दीजिए, पागल का प्रलाप इसी प्रकार चलने दीजिए। मैं समझूंगी, मुझे कर्ण-भूषण मिले।

शंकर : क्या इस प्रकार मेरे हाथ ही उखाड़ देने पर ?
सती : मुंह से बोलने में आपको इससे क्या रुकावट होगी ?
शंकर : मेरे हाथ ही जब इस प्रकार बांध दिये गए हैं, तब मैं तुम्हारी मूर्त्ति को नख-शिखान्त कैसे देख सकता हूं और उसका वर्णन भी कैसे कर सकूंगा ? फिर भी स्मृति के भरोसे कहता हूं। पावों के नुपूर चले जाने से...
सती : मेरे पैरों की आहट से अब आप खूब परिचित हो गए हैं। यही न ?
शंकर : यदि तुम मेरे मुंह के शब्द ही यूं बन्द करने लगो तो मैं बोलू कैसे ?
सती : मैंने अभी आपका मुंह कहां बन्द किया है ?
शंकर : लो, तो अब मुंह भी बन्द कर दो। हां, अरे लज्जित क्यों होती हो ? करो, मुंह भी बन्द करो। अहा-हा ! जिन ओठों के चुंबन की कल्पना से मुझे तुम्हारी सुन्दरता प्रथम बार ही दिखाई दी, वही तुम्हारे कमल-कलिका के समान ये स्निग्ध ओठ...
सती : उन्हें इन प्रवालों के संपुट में छिपाकर रखने का समय यह नहीं।
शंकर : यह समय क्यों नहीं ? नहीं देवि, मुझे इस तरह धोखा मत दो। मैं पागल हूं, इसमें सन्देह नहीं। पर देवि, अभीतक मेरी वृत्ति स्वच्छंद थी। तुम बार-बार कहती हो कि स्वतंत्रता मिल जाने से तुम्हें आनंद हो रहा है। पर प्रिये, तुम मेरी स्वतन्त्रता छीनकर अपना बंधन मेरे पल्ले क्यों बांध रही हो ? नहीं, अब मैं तुम्हारी एक नहीं चलने दूंगा। स्वतंत्रता का आनंद तो तुम लूटो, पर मैं क्यों पराधीन रहूं ? मैं कुछ नहीं सुनूंगा। आम्रफल की नोक की तरह तुम्हारी यह चिबुक इस प्रकार पकड़कर... (भृंगी आता है।)
भृंगी : मां-मां। यह देखो क्या चमत्कार है ?
शंकर : मूर्ख कहीं का ! इसमें क्या चमत्कार है ? आनंद में तल्लीन होकर प्रेमी अपनी प्रेयसी के ओठों के पास अपने ओंठ... (सती हाथ से उनका मुंह बन्द कर देती है।)
सती : कुछ लज्जा भी है आपको ? भृंगी के सामने यदि आप ऐसी

बातें करें, तो उसे क्या लगेगा ?

शंकर : उसे यही लगेगा कि उसके देव आनंद के महासागर में मस्त होकर खूब तैर रहे हैं।

शृंगी : हां-हां, देव, वे सब तैरते हुए ही जा रहे हैं। देखिये, बहुत-से मन्मथ और अनेक रति आकाश में तैरते हुए लगातार आगे बढ़े जा रहे हैं।

सती : अरे पगले, इतने रति और मन्मथ कहां से आयंगे ? रति एक ही है और मन्मथ भी एक ही है।

शृंगी : मां, मैं यूं धोखा नहीं खा सकता। मेरे पास आंखें हैं और उन आंखों से मुझे जो दीखता है, वह सब ठीक होता है। मैंने अपनी आंखों से अनेक मन्मथ-रति प्रत्यक्ष देखे हैं। वे सब आकाश में उड़ते हुए जा रहे हैं।

सती : कदाचित हों भी। आकाशस्थ देवताओं ने असंख्य विश्व के असंख्य रति-मन्मथ मेरे इन हृदयेश्वर पर निछावर कर दिए होंगे।

शंकर : ऐसा लगता है कि मेरे सहवास से कदाचित तुम भी अब पागल होने लगी हो।

सती : यह पागलपन नहीं है, देव। मेरी दृष्टि कोई दूसरा कैसे पा सकता है। शृंगी कहता है कि उसके पास आंखें हैं, पर बेचारा अंधा है। इतने दिनों से यह आपके सहवास में था, पर उसे आपका सौन्दर्य नहीं दीखता था।

शृंगी : क्यों नहीं दीखता था। मुझे सब दीखता था। ये सर्प, यह व्याघ्र-चर्म, यह त्रिशूल, ये रुद्राक्ष, ये भस्म के पट्टे—इनके कारण देव की शोभा बड़ी उग्र दीखती थी।

सती : पर क्या देव आजकल भी उतने ही उग्र दीखते हैं ?

शृंगी : (सोचकर) नहीं, आजकल वह उतने उग्र नहीं दीखते। इन सर्पों में पहले जैसी तेजी नहीं रही, व्याघ्र-चर्म भी अनेक जगह जीर्ण हो गया है। रुद्राक्ष की माला कभी-कभी टूटी हुई दिखाई देती है। और ये भस्म के पट्टे ? मुझे लगता है कि आजकल

कभी-कभी वे होते ही नहीं। त्रिशूल से हम लोगों ने जबसे काम लेना शुरू कर दिया है, तब से वह मैला हो गया है...

शंकर : तभी, मैं देखता हूं कि आजकल मेरा त्रिशूल कभी-कभी विलुप्त हुआ दिखाई देता है और कभी-कभी वह अचानक उत्पन्न हो जाता है। कौन-सा काम ले रहे हो मेरे त्रिशूल से ?

शृंगी : आजकल उससे हम जमीन जोतते हैं और अनाज पैदा करते हैं। मां ने हमें यह सिखाया है।

सती : हल नहीं मिल रहा था, फिर क्या करती ? त्रिशूल लिया और नंदी और शृंगी को जोत दिया। यह सच है कि जोड़ी ठीक-से जुड़ती नहीं है, पर कम-से-कम डेढ़ बैल का काम हो ही जाता है।

शृंगी : अरे-रे, यदि मेरे दो सींग होते तो क्या ही अच्छा होता ? पर मां, तुमसे जो बात मैं कह रहा था, वह तो अधूरी ही रह गई। उन रति-मन्मथों ने हमारी नई फसल रौंद डाली।

सती : कौन मदोन्मत्त हैं ये ? कहीं ये गंधर्व और किन्नर तो नहीं ? मद्यपान से उन्मत्त होकर, ऐसा ऊधम उन्हें छोड़कर और कोई नहीं मचायेगा। गाने की तानें भरनेवाले इन गंधर्वों को इसका भान भी नहीं रहता कि अपने पैरों तले वे फसल कुचल रहे हैं। वे गंधर्व ही हैं, इसमें संदेह नहीं। इस पगले को वे मन्मथ लगे। यह जिसे भी चमकीले और भड़कीले कपड़े पहने देखता है, उसी-को मन्मथ कहने लगता है।

शंकर : हां, वे गंधर्व ही होंगे। पर इतने गंधर्व और किन्नर आज जा कहां रहे हैं ?

शृंगी : वे हिमालय की तलहटी से नीचे की ओर जा रहे हैं। मां जब पहली बार यहां आई थीं और जिस मार्ग से लौटी थीं, उसी मार्ग से वे भी जा रहे हैं।

शंकर : (सती से) याने, क्या वे सब तुम्हारे मायके जा रहे हैं ?

सती : मेरे मायके ? मेरा मायका ? देव, मेरा मायका है, यह मैं बिल्कुल भूल ही गई थी। मेरा मायका है ? मुझे पिता के राज्य की याद आती थी, पर वह मेरा मायका है, यह कभी मेरे ध्यान में

हीं न आया था । मेरी मां वहां है । देव, मेरी मां वहां है । मेरी मां मेरी याद करती होगी । पर मुझे उसकी याद नहीं आई । मुझे पिताजी का ऐश्वर्य याद आता है । पर मुझे यदि मां की याद आती, तो ? देव, मुझे यदि मां की याद आती, तो क्या होता, क्या यह आप बता सकते हैं ?

शंकर : कैसे बता सकता हूं ! मेरे कोई मां ही नहीं ।

भृंगी : वाह देव, आप यह क्या कह रहे हैं ! मां कैसे नहीं है ? यह मां जो है, हम लोगों की ।

शंकर : अरे पगले, यह तेरी मां है ।

भृंगी : फिर देव के क्या कोई मां है ही नहीं ? नहीं, मां के बिना जीना व्यर्थ है । अभीतक हम सिर्फ मारे-मारे फिरते थे । देव हमेशा समाधि-मग्न रहते थे । पर तुम्हारे आ जाने से हम कितने सुखी हो गए हैं, मां । तुम्हींने हमें अनाज बताया, नहीं तो हम पत्ते और जड़ों से पेट भरा करते थे । तुम्हारे आने से पहले किसी को यह चिंता न थी कि हमारा पेट भर गया है या नहीं । सोने के लिए हम कहीं भी पड़े रहते थे । तुम जिस तरह आज हमारे कृष्णाजिन बिछा देती हो, वैसा पहले कहां होता था ? हम धूप में घूमते थे । पर कोई हमें छाया में नहीं बुलाता था, जैसे कि अब तुम बुला लेती हो । बेचारा नंदी दिन-भर घूमकर चरता था । अब वह मजे में एक जगह बैठा-बैठा घास खा रहा है । उसकी कितनी शान बढ़ गई है । अहा-हा, मां तुमने हमें नया संसार दिखा दिया । देव, क्या सचमुच तुम्हारी मां नहीं ? मन्मथ यदि अब मिलेगा तो उससे तुम्हारे लिए एक मां ला देने को कहूंगा ।

सती : मां देना मन्मथ का काम नहीं है । नहीं बेटा, मन्मथ यह नहीं कर सकेगा ।

भृंगी : पर उसीने तो तुम्हें हमारी मां बनाया है न ?

शंकर : मन्मथ ने मेरी हृदयेश्वरी को मेरे हृदय से निकालकर सामने खड़ा कर दिया । आओ-आओ प्रिये, एकाएक तुम ऐसी खिन्न

क्यों हो गई ?

सती : देव, मेरी मां । मेरी याद में वहां आंसू वहा रही होगी । पर मैं कितनी दुष्ट हूं ? मां, तुम्हें मैंने विल्कुल भुला दिया । मां तुम क्या सोचती होगी ? यदि ऐश्वर्य में झूमती हुई तुम्हें मैं भूल जाती तो तुम्हें इसका कुछ न लगता । परंतु इस चिंता से कि यहां हिमालय में मैं सुख में हूं या दुःख में; तुम्हारी आंखों का पानी थमता न होगा । मां, कहीं तुम्हें यह तो न लगता हो कि मेरी दरिद्रता तुम्हें न दिखाई दे, इसीलिए मैंने सदा के लिए तुमसे संबंध छोड़ दिया है ? मेरी प्यारी मां, तुम्हारे मन को कहीं यह शंका तो स्पर्श नहीं कर गई कि तुम्हारी बेटी जीवित है या मर गई ? अथवा मेरे विरह से तुम . . . नहीं-नहीं, ऐसी अशुभ कल्पना . . ., देव, क्या मेरी मां से आप एक वार मेरी भेंट करा देंगे ?

शंकर : अरे-रे, मैं कितना अभागा हूं । यदि मेरी मां होती तो मैं इसके दुःख में हाथ बंटा सकता । देवि, मां का विरह क्या मेरे सहवास में भी तुम्हें दुस्सह हो रहा है ?

सती : देव, मेरे विरह से आपको कैसा लगेगा ?

शंकर : नहीं-नहीं, विरह की वात ही मुंह से मत निकालो । तुम्हारे विरह से संसार का प्रलय हो जायगा । तुम्हारे विरह से यह समूचा ब्रह्माण्ड लड़खड़ाकर गिर पड़ेगा । तुम्हारे विरह से इस शंकर का कोपानल भड़क उठेगा—असंख्य विश्व चकनाचूर हो जाएंगे । तुम्हारे विरह से क्या होगा, यही बताना कठिन है ।

सती : इससे करोड़ गुना मुझे अपनी मां का विरह लग रहा है । देव, मेरी मां, मेरी मां ?

भृंगी : मां, रोओ नहीं, रोओ नहीं ।

सती : यदि मैं चली जाऊं, तो तुझे कैसा लगेगा भृंगी ?

भृंगी : ऐसी कोई वात ही मत करो मां, यदि तुम न होगी, तो हम लगातार रोते ही रहेंगे ।

सती : इससे हजारों-लाखों गुना मुझे मां का विरह लगता है । देव, मेरी मां, मेरी मां ।

श्रृंगी : मां, रोओ मत, रोओ मत ।

सती : यदि मैं चली जाऊं तो तुझे कैसा लगेगा बेटा ?

श्रृंगी : ऐसा मत कहो मां । यदि तुम नहीं होगी तो मुझे लगातार रोते रहना पड़ेगा ।

सती : सुन लिया देव ? मां के विरह का यह साधारण लक्षण है, लगातार रोते रहना । पर मैं तो लगातार हँसती ही रही थी । अब जब याद आई, तब कहीं दो बूंद आंसू टपके। देव, मां के विरह से हृदय फटकर मेरे अश्रु नहीं गिरे, मेरे अश्रुओं ने हिमालय के रूखे पत्थरों को नहीं पिघलाया । देव, मेरी अश्रु-धाराओं ने आपके शरीर के ये प्राचीन भस्म के पुट नहीं धोये । नहीं, मेरे आंसू न पोंछिये। विस्मरण की कृतघ्नता को धो डालने के लिए ही कम-से-कम इस हृदय का आश्रय लेकर मुझे यथेष्ट रो लेने दीजिए । (शंकर के हृदय पर मस्तक रखकर रोने लगती है ।)

शंकर : श्रृंगी, तू यहां से जा और मन्मथ को कहीं से खोजकर ले आ । जा ।

श्रृंगी : मन्मथ को मैं अब कहां खोजूं ? मुझे वह कहां मिलेगा ? चलो, उन गर्दभों या गंधर्वों से ही पूछूं। (जाता है ।)

शंकर : शांत, प्रिये, शांत हो । तुम यह क्या कर रही हो देवि ? सदैव आनन्द की लहरों से मेरे समाधि-मग्न मन को भी प्रफुल्लित कर देनेवाला तुम्हारा यह मुखमंडल यदि इस प्रकार म्लान हो गया तो मैं भी रो पड़ूंगा । देवि, तुम्हारे आनंद पर ही मेरा अस्तित्व निर्भर है । यदि तुम्हीं इस प्रकार रुदन करने लगोगी, तो मेरी क्या स्थिति होगी ? मैं क्या करूं ?

सती : आप भी रुदन कीजिए, देव । मेरे दुःख को बंटाने के लिए आप केवल दो आंसू ही गिरा दीजिए। फिर मेरे आंसुओं के प्रवाह में उन्हें मिलाकर, एकरूपता के दुःख का सुख हम दोनों ही प्राप्त करें। रुदन कीजिए देव, कम-से-कम मेरे लिए तो थोड़ा रोइये ।

शंकर : (स्वगत) अब क्या करूं ? जब मैं जानता ही नहीं कि मां का

विरह कैसा होता है, तब मैं रोऊं कैसे ! मां का ही क्यों, मुझे तो किसी के भी विरह का कोई अनुभव ही नहीं हुआ अभी तक।

सती : यह क्या देव, आपकी आंखों में अभी तक आंसू नहीं ? मेरे दुःख का आपके मन पर क्या कोई प्रभाव नहीं पड़ा ? क्या इतने शीघ्र मैं आपके मन से उतर गई ? ठीक है, जब मैं नहीं आई थी, उस समय आप जिस प्रकार पत्थर की तरह स्वस्थ बैठे रहते थे, उसी प्रकार बैठे रहिए अब भी। मैं ही पगली हूं। मैं क्या जानती थी यह ? मेरा आनंद आपको अच्छा लगता है और दुःख ? वह आपको अच्छा नहीं लगता। क्यों, यही न ? यह सब आपका स्वार्थ है। ऐश्वर्य को ठुकराकर मैं क्या इसलिए आपके पास आई कि आप मेरे दुःख में दुखी न हों। मुझे देखते ही आप पागल से भी अधिक पागल बनें, मेरे लिए पिताजी के द्वार पर जाकर आपने अपमान सहा, मेरे लिए भिखारी बने, मेरे लिए अपनी प्रिय समाधि भूल गए, मेरे लिए नाचे, मेरे लिए हँसे, लगातार हँसते रहे—पर आज मेरे लिए दो आंसू भी आप नहीं बहा सकते !

शंकर : यह कैसी पगली जैसी बातें कर रही हो, देवि ? मुझे दुःख का कभी सम्पर्क ही नहीं हुआ तो मैं रोऊं कैसे ? आनंदाश्रुओं को छोड़कर और किसी भी प्रकार के अश्रु मैं नहीं जानता।

सती : तो मेरा दुःख देखकर खूब आनन्द मानकर ही कम-से-कम दो आंसू बहा दीजिए। दुःख नहीं जानते न ? तो आपको अब दुःख जान लेना चाहिए। इसके लिए कम-से-कम मुझे ही मृत्यु आ जाय। आप संसार के संहार-कर्ता हैं न ? तो मेरा संहार कर दीजिए और फिर रोइये।

शंकर : (सती के मुंह पर हाथ रखकर) कैसा पागलपन है यह ! मेरा संहार-कार्य तुम्हारे संहार के लिए नहीं। तुम्हारे आनंद से ही मुझे जगत के संहार में सहायता मिलेगी। पर देवि, आज तुम्हारे मस्तिष्क में यह कौन-सी चामत्कारिक तरंग उठ पड़ी है ?

सती : क्या आपइसे तरंग समझ रहे हैं ? यह तो अच्छा हुआ, जो आपने इसे मेरा ढोंग नहीं कहा। इधर मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है और आपको यह मेरी तरंग लग रही है! आप अपने पर से जग को पहचानते हैं। जैसे आप लहरी हैं, आपको लगता है कि दूसरे भी आप जैसे ही सनकी हैं। हटिये भी देव, अब मैं आपसे कभी न बोलूंगी। (जाती है।)

शंकर : (स्वगत) अब क्या करूं ? क्या पीछे-पीछे जाऊं ? पर वह फिर रूठ जायगी। आज इसे यह हो क्या गया है! आज ही कैसे इसे मां की याद हो आई ? दक्ष के यहां कोई चामत्कारिक घटना तो नहीं हो गई ? सदा आनंदित रहनेवाली इसकी वृत्ति आज ही एकाएक भौंचक्की-सी क्यों हो उठी ! खैर, रूठ गई है तो रूठने दो। आज यह एक नया ही आनंद मैंने अनुभव किया। उसका रूठना कितना प्रिय लगता है ! पहले तो खूब हँसी। बाद में रो पड़ी। फिर रूठ गई और अब रूठकर चल भी दी। मुझे इसी में आनन्द आ गया। अहा-हा ! यदि इसी प्रकार रोज रूठे तो क्या ही आनन्द आये ! वह मुझसे रोने को कह रही थी, पर मुझे मन-ही-मन आनंद की गुदगुदी हो रही थी। यह आज एक नया अवतार ही हुआ है। अत्यानंद की यह एक नई सृष्टि निर्मित हुई, जिसका अनुकरण आगामी संसार के पति-पत्नी करेंगे, इसमें संदेह नहीं। धन्य है संसार और धन्य है उस संसार के पति। आओ, आओ, सब पतियो, आओ, यह नवीन पाठ सीखो। इस मधुर स्थिति की कल्पना मन्मथ भी न कर पाता ! नहीं, अब मैं उसे बिल्कुल मनाऊंगा ही नहीं। इसी तरह रूठने दो। सबेरे हाल ही में विकसित हुए रक्तकमल की तरह अपनी सती के मुखकमल का चिंतन करता हुआ मैं इसी प्रकार बैठा रहूंगा। अब मैं भी रूठूंगा। अहा-हा ! कितनी सुन्दर कल्पना है ! अब मैं भी रूठूंगा और जबतक वह मुझे स्वयं नहीं बुलायगी, तबतक मैं उसके पास नहीं जाऊंगा और एक शब्द भी उससे न बोलूंगा। इस अवतार को देखने के लिए

इस समय यदि मन्मथ होता तो बड़ा आनन्द आ जाता ! (मन्मथ को साथ लेकर भृंगी का प्रवेश)

भृंगी : देव, ये आ गए मन्मथ ।

मन्मथ : महादेव की जय हो !

शंकर : वाह भृंगी ! तूने बिल्कुल आज्ञा के अनुसार तुरंत ही काम कर दिया ।

भृंगी : नहीं-नहीं, देव, इन्हें मैं नहीं लाया । यह स्वयं ही आ रहे थे । मैंने इन्हें लाने में सिर्फ शीघ्रता की ।

मन्मथ : और मैं भी देव, आपको शीघ्रता करने के लिए ही आया हूं । दक्ष के घर आज क्या हो रहा है, इसका पता चला आपको ?

शंकर : मुझे भी यही लगा कि वहां कुछ-न-कुछ अवश्य हो रहा होगा, अन्यथा सती का मन अचानक इतना व्याकुल न हो उठता । भृंगी, तू जा और देखकर आ कि सती कहां है । (भृंगी जाता है ।)

मन्मथ : क्या सती का स्वास्थ्य बिगड़ गया ?

शंकर : हिमालय पर किसी का स्वास्थ्य नहीं बिगड़ता । सती को अपनी मां का स्मरण हो आया और उसके कारण उसका मन व्यग्र हो उठा है ।

मन्मथ : स्वाभाविक ही है । यह मालूम होने पर कि पिता के घर एक बड़ा समारोह हो रहा है, ससुराल में किस लड़की का मन स्वस्थ रहेगा ?

शंकर : क्या कहा ? क्या दक्ष के घर कोई समारोह हो रहा है और उसका हमें पता तक नहीं ? सच, कितना पागल हूं मैं ! सती का कन्यादान करते समय दक्ष ने जो कहा था, वह मैं बिल्कुल भूल ही गया ! मन्मथ, दक्ष के समारोह से मेरा कोई संबंध नहीं ।

मन्मथ : आपका न हो । पर सती का तो वह मायका है न ?

शंकर : चुप रहो । उस शब्द को मुंह से भी मत निकालो । उस शब्द के कारण कुछ समय पहले मुझे कितने क्लेश हुए ! नही, मन्मथ, क्लेश हुए थे अथवा होनेवाले थे, परंतु बाद को जब वह रूठी

तब—अहाहा ! उस रूठने का स्मरण होते ही मेरा हृदय नृत्य करने लगता है। मैं चाहता था कि तुम भी वह रूठना देखते। इसीलिए मैंने तुम्हारी याद की थी। कितना मधुर प्रसंग था वह !

मन्मथ : माननी स्त्रियां जब रूठती हैं, तब अभिमानी पुरुषों की मनः-स्थिति का कहना ही क्या ! देव, पत्नी के रूठने से आपको जितना आनंद हुआ, उतना मुझे नहीं होगा, क्योंकि मेरी रति रूठने की ही मूर्त्ति है। यदि वह रूठे नहीं तो उसे सौन्दर्य ही प्राप्त नहीं होता। दक्ष के यहां आजकल जो बड़ा समारोह हो रहा है...

शंकर : मेरा उससे कोई संबंध नहीं। वहां का उत्सव छोड़कर तुम यहां क्यों आये ? मुझे लगता है कि यहां आते-आते तुम्हींने इस समाचार के स्फुलिंग यहां के वातारवण में फेंक दिए। अब सती को यदि यह समाचार मिला, तो क्या होगा, भगवान जाने ! और फिर उसकी आज की मनोदशा—नहीं-नहीं—तुम न आते तो बहुत अच्छा होता !

मन्मथ : (स्वगत) इसीलिए तो मैं आया हूं। (प्रकट) पर देव, जहां प्रत्यक्ष महादेव का अपमान करने के लिए ही यज्ञ हो रहा है, वहां मैं भी आखिर कैसे रहूं ? प्रलय का विनाश करके सृष्टि को अनंत बनाये रखने के लिए यदि दक्षप्रजापति ने यज्ञ आरंभ किया है तो वह मुझे कैसे अच्छा लगेगा ? किसी की भी गति को जब अबाधित हुई देखता हूं, तब देव, मुझे बड़ा दुःख होता है। इसीलिए तो आपके प्रति मेरी इतनी भक्ति और श्रद्धा है। आप हैं, इसीलिए संहार है, और जहां संहार होना होता है, वहां पहले से ही मैं उपस्थित रहता हूं। इसलिए कहता हूं, देव, संहार का ही संहार करने के लिए जब दक्ष तैयार हो गया है, तब संहारकर्ता को इसका पहले समाचार देना क्या मेरा कर्तव्य नहीं ?

शंकर : परंतु इस कर्तव्य का पालन करते समय तुम दक्ष का विरोध करने की अपेक्षा उसकी सहायता कर रहे हो। इस समाचार

का पता लगने पर सती दक्ष के कान उमेठना चाहेगी और इसके लिए यदि वह यहां से चली गई तो---मन्मथ, वह यहां से चली गई, तो संसार का प्रलय हो जायगा ।

मन्मथ : प्रेम आपसे ऐसा कहलवा रहा है । मैं सोचता हूं, सती के मन पर इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा । इसका यदि किसी के मन पर प्रभाव पड़ता है तो आप ही के मन पर पड़ेगा ।

शंकर : मुझपर क्या प्रभाव पड़ेगा ? जाकर कह दो दक्ष से कि करदे संहार का नाश । इसमें मुझे आनंद ही है, क्योंकि संहार का संहार हो जाने के बाद संहार-कार्य की अपनी वह अज्ञात शक्ति मैं सती की आराधना में लगा दूंगा और दक्ष के ही दाक्षायण से अनंतकाल तक उसके मधुर सहवास में आनंदपूर्वक दिन व्यतीत करूंगा । पर मन्मथ, यह समाचार पाने पर सती स्वस्थ रहेगी, ऐसा मुझे नहीं लगता । मेरा क्या ? मैं ठहरा एक भिक्षुक ! अधिकार की मैंने कभी अपेक्षा ही नहीं की । इसलिए वह अब मेरे पास से चला जाता है, तो उसका मुझे यदि कोई दुःख नहीं । परंतु सती अवश्य इस दृष्टि से नहीं सोचेगी । मेरा सारा अभिमान स्वयं लेकर उसे अपने अभिमान में मिलाकर उसने अपने में आत्मसात कर लिया है । इस द्विगुणित अभिमान के बल से वह दक्ष को संकट में ले आयेगी । कृपाकर तुम जैसे आये हो, उसी प्रकार अब लौट जाओ । यदि भृंगी ने तुम्हारे आगमन का समाचार उससे कह दिया हो, तो भी कोई आपत्ति नहीं । मैं उसे किसी प्रकार समझा लूंगा । पर तुम अब जाओ, जाओ ।

मन्मथ : पर मेरे साथ रति भी तो आई है यहां ।

शंकर : वह कहां है ?

मन्मथ : उसकी सती से अबतक कदाचित भेंट भी हो चुकी होगी ।
(भृंगी प्रवेश करता है ।)

भृंगी : देव, मां का तो कहीं पता नहीं ।

शंकर : धोखा हो गया ! रति को साथ लेकर वह निश्चय ही अपने

मायके चली गई। मुझसे विना कुछ कहे—विना पूछे—मेरी अनुमति लिये विना ही वह चली गई !

मन्मथ : हां, यह हो सकता है, देव। कहते हैं कि मायके का आकर्षण बड़ा विलक्षण होता है।

शंकर : शृंगी, खड़ा क्या है? भाग-भाग जल्दी—और नंदी को तैयार करके अतिशीघ्र ले आ। (शृंगी जाता है।) अरेरे ! अब क्या होगा, कौन जाने ? चांडाल, मेरे सुख के समाधान में विष घोलने तुम्हें यहां किसने भेजा ? क्या दक्ष ने ?

मन्मथ : नहीं देव, मैं अपने ही मन से आया हूं। अरेरे, मुझे यहां आने की यह कैसी कुबुद्धि सूझी !

शंकर : चलो मन्मथ, पहले सती से मिलें। यदि वह न मिली तो—नहीं नहीं—वह अशुभ विचार ही...चलो ! (जाते हैं।)

दृश्य चार

(रति और सती)

सती : जितनी भूल कर चुकी, उतनी बस है। मैं अब तुम्हारी बिलकुल नहीं सुनूंगी।

रति : तुमने भूल की कहां ? अपने ही घर तो जा रही हो। अपने घर जाने के लिए पति की अनुमति की क्या आवश्यकता ? यदि ऐसी छोटी-छोटी बातों के लिए पति की अनुमति लेनी पड़े, तो दोनों में एकता ही कहां रही ? मैं मानती हूं कि मन दो हैं, पर वे अब एक जो हो गए हैं। दोनों के एक हो जाने पर परायेपन का भाव तुम्हारे मन में आता ही क्यों है, इसीपर मुझे आश्चर्य होता है।

सती : एक हो जाने के कारण ही मुझे परायेपन का स्मरण होता है। परायेपन का स्मरण हुए बिना दोनों में एकता कैसे रहेगी ? इसीलिए मुझे अब लग रहा है कि मेरी भूल हो गई। पगली रति, कम-से-कम तुम्हारे सामने तो यह प्रश्न खड़ा नहीं होना चाहिए था। क्या मन्मथ का मन इसी प्रकार संभाल रही हो

तुम ? अब क्यों गर्दन झुका ली ? यदि तुम इस प्रकार बिना अनुमति के चल दी होतीं, तो मन्मथ को क्या लगता ? बिना उससे पूछे चल देने के कारण उसे जो दु:ख होता, उसका तुम्हारे मन पर क्या प्रभाव पड़ता ? बताओ—अब तो समझ गईं न ?

रति : यह सच है। पर मानलो, तुम उनसे अनुमति लेने गईं और उन्होंने वह न दी, तो ?

सती : ऐसा कभी होगा ही नहीं। यह क्या दक्षप्रजापति का राज्य है ? यह कैलास है। समझीं ? तुम्हारी शंका बिल्कुल निराधार है। अकारण तुम्हारी बातों में आकर, व्यर्थ ही मैं देव की अवज्ञा कर रही थी। चलो, अब पीछे लौट चलें।

रति : अब यह तुम्हीं सोच लो। कम-से-कम मुझे तो ऐसा नहीं लगता कि महादेव तुम्हें जाने की अनुमति देंगे।

सती : तुम्हें जैसा लगता है, उस प्रकार का बर्ताव करने के लिए न तुम दक्ष हो और न मैं कश्यप। दक्ष की चापलूसी करने के लिए चाहे जिस प्रकार नाचनेवाले मनुष्य मैंने देखे हैं। उनसे मुझे घृणा होती थी। इसीलिए तो मैं कैलास आ गई। कैलास के स्वतंत्र वातावरण में तपस्या करनेवाली यह सती अपने कल्याण के लिए भी किसीकी भीगीं बिल्ली होकर नहीं रहेगी।

रति : क्या शंकरजी की भी नहीं ?

सती : अरी पगली, वे क्या कोई दूसरे हैं ?

रति : पर थोड़ी देर के लिए मान लो कि उन्होंने तुम्हें जाने की अनुमति नहीं दी तो फिर भी क्या तुम अपनी स्वतंत्रता पर डटी रहोगी ?

सती : हां-हां-हां। पर रति, यह विचार ही मन में मत लाओ। देव का प्रेम इतना विकारमय नहीं। वह अब तुमसे क्या लाज करूं ? मेरे आनंद और समाधान के लिए वह मुझे उच्चासन पर बिठा देते हैं और मेरे सम्मुख किसी नर्तक की तरह नृत्य करते हैं। पिताजी के घर मुझे बार-बार नृत्य-संगीत सुनने को मिलता था न ? उसी अभाव की पूर्त्ति के लिए देव का यह सारा ठाठ

रहता है। अब तुम्हीं बताओ, जो मेरे आनंद के लिए मेरे सामने नाचते-गाते भी हैं, वह मुझे तुम्हारे साथ मायके क्यों नहीं जाने देंगे ?

रति : यह कौन कह सकता है ? ये हैं पुरुष। कब किस तरह पलटी खा जायं, इनका कोई ठिकाना नहीं।

सती : यदि वह मुझ अकेली को नहीं जाने देना चाहेंगे, तो उन्हींको साथ ले जाऊंगी।

रति : प्रत्यक्ष के लिए प्रमाण की क्या आवश्यकता ? इतनी देर हो गई। हम आधे से भी अधिक हिमालय उतर आईं। पर उन्होंने अभीतक तुम्हारी कोई खोज-खबर भी नहीं ली।

सती : ऐसा क्यों कहती हो? देखो उधर—स्वयं महादेव ही आ रहे हैं। (शंकरजी और मन्मथ आते हैं।)

शंकर : सती—सती ! क्या इस भिखारी को छोड़कर तुम मायके जा रही हो ?

सती : नहीं देव—मैं जा रही थी—पर अभी लौट रही हूं। रति की बातों में आकर मैं यहांतक आ गई थी। पर देव, आपके प्रेम की डोर ने मुझे पुनः खींच लिया।

मन्मथ : (स्वगत) अब खींचा-तानी शुरू होगी।

शंकर : मन्मथ, देखा तुमने ? अब तो कम-से-कम तुम्हें विश्वास हुआ न ?

मन्मथ : हां देव, अब मुझे विश्वास हो गया कि मायके का प्रेम जब जोर से खींचने लगता है, तो पति के प्रेम का खिचाव एक क्षण-भर ही उसका निरोध करता है।

सती : देव, मैं अब मायके जाऊंगी।

शंकर : मायके जाऊंगी !

सती : यह कैसा विनोद ? मेरे ही शब्दों को आप क्यों दोहराते हैं ? क्या आप मुझे पगली समझ रहे हैं ?

शंकर : नहीं, मैं ही पागल हो गया हूं। प्रिये, तुम्हें कल्पना भी है कि तुम क्या कह रही हो ?

रति : यह कैसा प्रश्न ? यदि सती मायके जाने को कह रही है तो कौन-सा बड़ा संकट आ गया ?

शंकर : रति, यह सचमुच एक बड़ा संकट है।

रति : यह जाति का गुण है ! पत्नी के ज़रा-सा भी कुछ मांगने पर ये अभिमानी पति एक-न-एक अड़ंगा पैदा कर देते हैं।

सती : देव, पिताजी के घर एक बड़ा यज्ञ हो रहा है...

शंकर : (स्वगत) पिताजी के घर ?

सती : रति कहती है कि ऐसा यज्ञ आज तक कभी नहीं हुआ...

शंकर : (स्वगत) सचमुच नहीं हुआ। प्रलय के संहार के लिए—

सती : सुनिये देव, रति कहती है कि उस यज्ञ के लिए जग के सब बड़े-बड़े ऋषि, देव, गंधर्व, अप्सराएं और उनके सारे परिषदगण एकत्र हुए हैं। सारी नगरी उत्सव के आनंद-सागर में डूबी हुई है। ऋत्विजों के स्वाहाकार से प्रचंड यज्ञ-मंडप गूंज उठा है। धन और रत्न दान से असंख्य याचक संतुष्ट किये जा रहे हैं। सर्वत्र नृत्य, संगीत और वाद्यों की लगातार धूम मची हुई है। यज्ञ-पशुओं की करुण चीखों में याचकों के आशीर्वाद मिल जाने के कारण करुण और हास्य, दोनों रस एक ही स्थान में आ गए हैं। यह सब देखने का अपूर्व अवसर मैं हाथ से न जाने दूं, इसलिए जानबूझकर रति यहां आई है।

शंकर : शायद दक्ष ने ही उसे यहां भेजा होगा।

सती : हां। पिताजी ने ही तुम्हें यहां भेजा है न ? मन्मथ, अब बोलते क्यों नहीं ?

मन्मथ : कितना विलक्षण प्रश्न है यह? सती, प्रजापति को तुम्हारा स्मरण भी नहीं रहा है। जब वह यह स्मरण करते होंगे कि उन्हें क्या-क्या भूल जाना है, तभी उन्हें शायद तुम्हारा स्मरण होता होगा !

सती : पिताजी भूल गए होंगे। पर रति, तुम्हें मां ने भेजा है न...? देखिये देव, पिताजी का इतना क्रोध है, फिर भी उनके अनजाने मां ने मुझे बुलावा भेजा !

रति : नहीं।

सती : क्या मां ने तुम्हें नहीं भेजा ?

रति : नहीं। हम अपने मन से ही आये हैं। यहां इतना बड़ा समारोह हो रहा है और तुम उसे न देखो, इसका हम दोनों को बुरा लगा और...

शंकर : सुन लिया देवी ? दक्ष के अनुचरों को भी तुम पर दया आवे, ऐसी तुम्हारी स्थिति हो गई है !

सती : बुलावे की ही क्या आवश्यकता है ? अपने घर जाने के लिए किसीको मुझे निमंत्रण भेजने की आवश्यकता नहीं। मैं कोई परायी नहीं। मां ने सोचा होगा—'मेरी लड़की है, मायके में यज्ञ हो रहा है, उसे निमंत्रण क्यों दूं, उसका घर है। यह समाचार पाते ही कि मायके में उत्सव हो रहा है, वह स्वयं दौड़ कर आ जायगी।' कदाचित वह मेरी परीक्षा ले रही होगी। है न मन्मथ ?

मन्मथ : हां। यह भी हो सकता है।

शंकर : प्रिये, तुम सोचती हो कि तुम्हारे जैसे ही जग के सब लोग हैं। पर क्या जग ऐसा है ? मैं मानता हूं कि अपने स्वजनों के घर बिना बुलाये जाना अनुचित नहीं है। परंतु यह उसी समय ठीक होता है, जब उन स्वजनों में आस्था और प्रेम हो। यहां आस्था तो है ही नहीं, यह मन्मथ के कहने से ज्ञात हो ही गया और प्रेम ?...

सती : देव, मां का अपनी बेटी पर प्रेम न हो, ऐसा कभी नहीं हुआ है ?

शंकर : और बाप का ?

सती : क्रोध तात्कालिक होता है। उस समय उन्हें क्रोध आ गया था। पर अब वह चला भी गया होगा।

शंकर : कम-से-कम मुझे शाप देने के समय तक तो वह नहीं गया था, यह निश्चित है। सती, शस्त्र-प्रहार के घाव कालांतर से भर जाते हैं, परंतु शब्द-प्रहार के घाव किसी तरह नहीं भरते। तुम पर तुम्हारे पिता का प्रेम होना स्वाभाविक है। परंतु वह मेरा शत्रु है, यह तो तुम जानती हो न ? उसे अपनी बेटी चाहे

अच्छी लगे, परंतु शंकर की रानी के नाते वह तुम्हारा सदा अपमान ही करेगा ।

रति : सती–सती, सुन लिया ? अब तो विश्वास हुआ तुम्हें ।

सती : यह क्या देव, क्या मैं अपने मायके भी न जाऊं, और ऐसे समय जब कि वहां एक बड़ा समारोह हो रहा है ? मैं इस वीरान स्थान में भी आनंद से रह रही हूं । परंतु आप हैं जो एक दिन के लिए भी मुझे अपने घर जाकर वह आनंद मनाने की अनुमति देने के लिए इतने कुड़बुड़ा रहे हैं । यदि आप सोचते हैं कि मुझ अकेली के जाने से वहां मेरा अपमान होगा तो चलिये, हम दोनों ही चलें ।

मन्मथ : हां-हां । यह उपाय बहुत अच्छा है ।

शंकर : क्या अच्छा है ? हम दोनों का जाना, या हम दोनों के जाने से वहां होनेवाला परिणाम ? मन्मथ, दक्ष के सहवास में इतने दिन रहने पर भी तुम्हें उसके दीर्घ-द्वेषी स्वभाव का पता नहीं चला, इस पर मुझे आश्चर्य होता है ! सती का दर्शन वह कदाचित सह ले, पर यदि मैं गया तो—यदि मैं गया तो भयंकर युद्ध होगा ।

मन्मथ : तो फिर सती को ही अनुमति दे दीजिए ।

सती : हां, मैं मायके जाऊंगी । हो सकता है, पिताजी के क्रोध के कारण मां ने निमंत्रण न भेजा हो । क्या कर सकती है बेचारी ? पिताजी का स्वभाव ही बड़ा विचित्र है । पर देव, मां को क्या लग रहा होगा ? वह सोचती होगी—'लड़की आ जाय । अगर 'वह' क्रोध करेंगे तो मैं उन्हें मना लूंगी ।' देव, उसका ऐसा सोचना क्या वात्सल्य के अनुरूप नहीं ? बेचारी मन-ही-मन मेरे लिए घुल रही होगी । उसका आप पर विश्वास है । उसने अपने हृदय में पहले से ही यह प्रबल इच्छा संजोकर रखी थी कि उसकी बेटी ऐश्वर्यशाली के घर न जाय, सो क्या इसलिए कि आगे उसे यह देखना पड़े । देव, तनिक सोचिये और कृपा करके मुझे मायके जाने दीजिए ।

शंकर : अब तुम्हें समझाऊं भी कैसे ? अरी पगली, तुम्हारा पिता अहंकार से अंधा हो गया है। अपने ऐश्वर्य के परे उसे और कुछ नहीं सूझता। अपने ऐश्वर्य के समर्थन के लिए वह चाहे जिस व्यक्ति का अपमान कर देगा। उसने मुझे भी कैसा शाप दिया, यह तो तुम जानती हो न ? मान लो तुम वहां गईं और उसने तुम्हारा कोई आदर-सत्कार न किया—नहीं, तुम्हारा अपमान कर दिया, तो तुम क्या करोगी ?

सती : मुझे विश्वास है कि वहां मेरा अपमान नहीं होगा।

मन्मथ : यह तुम नहीं कह सकतीं। देव ने जो कहा है, उसे असंभव नहीं कहा जा सकता।

रति : तुम तो अपनी जाति का ही पक्ष लोगे। चलो सती, इनकी क्या सुनती हो ? तुम्हारे जाने से दक्षप्रजापति को कुछ भी लगे। पर प्रसूती देवी को इतना आनंद होगा जैसे उन्हें स्वर्ग मिल गया हो !

शंकर : प्रसूती को आनंद नहीं होगा, यह मैंने कब कहा ? पर दक्ष के क्रोध का क्या उपाय ?

सती : दक्ष का क्रोध ? दक्ष का क्रोध लिये क्या बैठे हैं ? देव, क्या आप दक्ष के क्रोध से डरते हैं ? यदि आपकी प्रिय सती इतनी डरपोंक होती तो उसे आपका पाणिग्रहण करना बिल्कुल असंभव हो जाता।

मन्मथ : उस समय तुम दोनों का जो विवाह हुआ, वह दक्ष के क्रोध के शांत हो जाने से नहीं। सती, वह इस मन्मथ के षड़यंत्र की सफलता के कारण हुआ। यदि उस समय मेरा षड्यंत्र सफल न होता, तो पुनः कभी भी तुम यह कैलास न देखतीं।

सती : बस करो यह आत्मश्लाघा ! मेरा विवाह कैसे हुआ, यह तुम्हारी अपेक्षा मैं अधिक जानती हूं।

मन्मथ : अच्छा भई, उस समय हम तुम्हारे कोई काम न आये, यह तो निश्चित ही हो गया। पर इस समय तो मायके में हो रहे यज्ञ का समाचार मैंने ही तुम्हें दिया न ?

सती : तुम चल दिए थे महादेव की खोज में। कौन मुझसे आकर पहले मिले थे ? रति को मेरे मायके से प्रेम है। इसलिए वही मुझसे पहले आकर मिली और उसीने मुझसे वहां का हाल भी कहा।

रति : (मन्मथ से) लीजिये। अब तो बन गए आप पूरे बुद्धू !

सती : चुप क्यों हो गए, देव ? मैं जाऊं न ? बोलिये न ? मैं जाऊं ? देव, आप दयालु हैं। दूसरे का दुःख निवारण करने के लिए आप सदैव तत्पर रहते हैं। फिर अपनी प्यारी सती की यह छोटी-सी इच्छा भी क्यों आप पूरी नहीं करेंगे ? देव, मेरे मन को देखिये। आप अनुमान से मेरे मन की कल्पना कीजिए। मेरे पिता के घर इतना बड़ा समारोह हो रहा है और यदि मैं वहां उपस्थित न रहूं, तो मेरे मन को क्या लगेगा ? मान लीजिए मैं मायके में रहती—हँसते क्यों हैं—हां, अगर आप मुझे पहले कभी वहां भेजते तब न ? और यहां कैलास पर कोई उत्सव होता, तो आपको क्या लगता ?

शंकर : असंभव बातों की मैं कल्पना ही न कर सकूंगा।

सती : तो मेरा मायका जाना आपने असंभव ही सिद्ध कर दिया ! रति-मन्मथ को देखिये, चाहे जब, चाहे जहां ये लोग जाते हैं, चाहे जब एक दूसरे से मिलते हैं, परस्पर लड़ते हैं, एक-दूसरे पर क्रोध करते हैं, रूठते हैं। पर उनके मत-भेद क्या कभी सदा के लिए बने रहते हैं ? कुछ बोलिये न देव ! आप अगर मौन रहते हैं, तो मेरा मन व्याकुल हो उठता है। मैं सोचती हूं विनोद अब पर्याप्त हो गया।

शंकर : यह क्या विनोद है ? देवी, यह मेरे अस्तित्व का प्रश्न है—यदि तुम चली जाओगी, तो मैं कैसे रहूंगा ? प्राणेश्वरी, तुम इस ईश्वर की जीवन-शक्ति हो। तुम हो, इसीलिए मैं हूं। तुम चली जाओगी तो—तुम चली जाओगी तो—(आंखें मूंद लेते हैं।)

सती : और जब मैं यहां बिल्कुल ही नहीं थी, उस समय ?

शंकर : उस समय मैं भी नहीं ही था। तुम आईं, तभी मैं अपना होकर तुम्हारा हो गया। दक्ष के घर मत जाओ। तुम अपना अप-

मान सह सकोगी। परंतु मेरे अपमान से तुम जीवित न रहोगी। मेरी यह नम्र प्रार्थना सुनो और अपना यह हठ छोड़ दो।

सती : आपको बहाने तो बहुत मिल जाते हैं। अब अंतिम बार पूछती हूं कि आप मुझे जाने देते हैं या नहीं ?

मन्मथ : देव, हो जाने दीजिए इनकी इच्छा पूरी। दे दीजिए अनुमति। आप क्यों व्यर्थ बुराई अपने सिर ले रहे हैं ?

रति : जो पत्नी का हठ पूरा नहीं करता, वह पुरुष ही कैसा ? पत्नी क्या सवारी का नंदी समझ रखा है ? जिस तरह रास खींची जाय उस तरह नंदी चल सकता है अर्धांगिनी नहीं, देव !

शंकर : (स्वगत) क्या इसे बता दूं कि दक्ष ने जो यज्ञ आरंभ किया है, वह मेरे नाश के लिए है। नहीं, उसे शायद यह सच भी नहीं लगेगा। अथवा ऐसे काम से अपने पिता को परावृत्त करने के लिए मेरी अनुमति की भी परवा न करके वह चली जायगी। नहीं—इसे नहीं जाने देना चाहिए। यही ठीक है।

सती : क्या सोच रहे हैं, देव ?

शंकर : अब सोचने के लिए बिल्कुल अवकाश ही नहीं रहा। हृदयेश्वरी, यह अवसर विचार करने का नहीं है। भले या बुरे की निष्पत्ति होने तक विचार करने का अवकाश होता है। पर जहां एक बार पक्का निश्चय ही हो गया, वहां विचार करना ही अविचार होगा। प्रिये, तुम ज्ञानमती हो। क्या मेरे इस हृदय को तुम बिल्कुल ही नहीं पहचान पाईं ? देखो, तुम्हारे विरह की मात्र कल्पना से ही वह किस तरह कांप रहा है ! अपने इस अमृतपूर्ण कोमल करपल्लव को मेरे हृदय पर रखकर देखो और उसके पश्चात जो निश्चय करना चाहो करो। क्यों ? जिस कर-ग्रहण के लिए तुम अपने प्रतापशाली पिता से लड़कर चली आईं, वही हाथ अब तुम्हें अप्रिय लगा ? अरेरे विधाता, सृष्टि के नियम में भी तुम्हें स्त्री जाति ने चकमा दे दिया। पत्नी के स्नेहशील सहवास के लिए पति के चाहे जो स्वार्थ-त्याग करने पर भी पत्नी मायके के लिए अपने पति का ही त्याग करने के

लिए तैयार हो जाय ? मैं स्त्री होता, तो ऐसे प्रिय पति के लिए हजारों मायके ठुकरा देता ।

मन्मथ : आं-हां । आप स्त्री होते तो क्या करते ! यह जानने के लिए आपको भी स्त्री ही होना पड़ता । स्त्री का हृदय । अरे बापरे, स्त्रियों का हृदय जानना स्त्रियों को ही असंभव होता है । फिर वहां पुरुषों की क्या बिसात !

शंकर : सती, मैं इतना मना कर रहा हूं, कम-से-कम इसीलिए यह दुराग्रह छोड़ दो ।

रति : लो—सुन लो सती, मायके जाना दुराग्रह होता है। समझीं ?

सती : क्या यह मेरा दुराग्रह है ? और आप मुझे जो जाने नहीं दे रहे हैं, यह कदाचित आपका दुराग्रह नहीं ?

रति : यही है तुम्हारे कैलास का स्वतंत्र वातावरण ! देख लो, सती । अब तो हुआ तुम्हें मेरी बात पर विश्वास ?

सती : जन्म से मैं ऐश्वर्य में पली, परंतु आपके प्रेम के लिए इतने बड़े ऐश्वर्य का त्याग करके आपके भिक्षा-पात्र का आश्रय लिया । मखमली गद्दे भी जिन पैरों में कांटों जैसे चुभा करते थे, वही ये पैर कैलास की ठिठुरी हुई शिलाओं को कोमल मानने लगे । स्वादिष्ट पकवानों से जो जिह्वा ऊब उठी थी, वही यह जिह्वा अब लार टपका-टपका कर कंद मूल फल खाने लगी है । हजारों छत्रधारियों द्वारा फैलाये गए रेशमी आंतपत्रों की शीतल छाया के बिना जिसने कभी सूर्य दर्शन नहीं किया, वही यह दाक्षायणी आज कैलास पर खुले सिर घूम रही है । कोमल बिस्तर पर सोने की आदत भूलकर, देव, आपके भस्म-भूपित हाथ के सिरहाने पर मस्तक रख, पत्थर के पर्यंक पर शयन-सुख प्राप्त करने में जिसने आनंद माना, क्या उसे एक क्षण के लिए भी आप उसका पुराना ऐश्वर्य नहीं देखने देंगे ?

शंकर : देवी, तुम्हारा मनोभंग करने के लिए विवश हो जाने के कारण मेरे मन को कितनी और किस प्रकार की यातनाएं हो रही हैं, उसकी तुम अपने मनोभंग की यातनाओं से ही कल्पना करलो ।

पर क्या करूं ? आगामी प्रसंग पर दृष्टि रखकर मुझे तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार करते नहीं बनती । अपने मां-बाप के कल्याण की यदि तुम्हें चिंता है तो यह हठ छोड़ दो । चलो, अकारण ही हमारे मन को त्रास देने के लिए कारणीभूत होनेवाले इन दोनों को छोड़कर, हम कहीं दूर चलकर बैठें ।

मन्मथ : वाह, वाह, क्या खूब । सती, तुम्हारे मायके के लोग भी अब ये अपनी दृष्टि के सम्मुख नहीं चाहते ! चलो रति, हम भी चलें । व्यर्थ इनके प्रेम में क्यों बाधा बनें ?

रति : सच तो है ! हम व्यर्थ ही इतना हिमालय चढ़कर आये और ऊपर से हमें ऐसी बातें सुननी पड़ीं ! सती, बैठी रहो यहीं अपना स्वतंत्रता का वातावरण लिये । हम अपने पराधीन-वाताव-रण में ही सुखी हैं । चलिये, चलें ।

सती : (क्रोध से) कहां जा रही हो मेरी अनुमति के बिना ?

मन्मथ : मतलब ? क्या हम जायें भी नहीं ? तुम्हें अपने पति की लातें मीठी लगती हैं । पर उन्हें सहने के लिए हम कोई अपने बाप से लड़कर नहीं आये हैं ?

सती : जिस तरह पिताजी से लड़ी, उसी तरह अब इनसे भी लड़ूंगी ।

शंकर : नहीं देवी । कम-से-कम यह न करना ।

सती : जिस अपने मन के समाधान के लिए मैंने पिताजी की पराधी-नता को फेंककर दूर कर दिया, वही मेरा पति के प्रेम के लिए भी पराधीनता के बंधन कभी सहन नहीं करेगा । मैंने स्वतंत्रता में जन्म लिया है और आजन्म स्वतंत्र ही रहूंगी ।

शंकर : यह क्या कह रही हो, देवी ? प्रेम की परतंत्रता के लिए मैं अपनी अनादि स्वतंत्रता भी खो बैठा । उस प्रेम का मार्दव तुम्हारे कठोर मन पर क्या कोई परिणाम नहीं करता ?

सती : संपूर्ण विश्व के सारे व्यक्तियों के सब प्रकार के प्रेम एकत्र करके कोई लाकर मुझे दे दे, फिर भी अपनी व्यक्तिगत स्वतं-त्रता के आगे मैं उन्हें बिल्कुल तुच्छ मानूंगी । ऐसे असंख्य विश्व के असंख्य प्रेम-रज्जुओं से कोई मुझे बांध रखे, फिर

भी अपनी स्वतंत्रता के लिए उन सब रज्जुओं को एक झटके में तड़ाक-से तोड़ डालने की शक्ति मेरे स्वतंत्र मन में धधक रही है। व्यक्ति स्वतंत्रता के आगे मैं विश्व-व्यापी प्रेम को भी अपने पैरों तले की धूल के एक कण के बराबर भी मूल्य नहीं देती। यह शक्ति यदि मुझमें न होती तो इतने भयंकर जाज्वल्य पिता की परवा न कर, क्या आपसे मैं विवाह कर पाती ? केवल इस बात से ही मेरे मन की परीक्षा करके आपको मुझे मायके जाने की अनुमति दे देनी चाहिए थी। प्रेम के कारण यदि स्वतंत्रता पर आक्रमण होता हो, तो ऐसे गंदे प्रेम को मैं किसी तुच्छ कीटक की तरह अपने पैरों तले कुचल डालूंगी। जिस स्वतंत्रता की ज्योति आज मेरे हृदय में जल उठी है, वह जीवित-ज्योति उस ज्योति की एक छोटी-सी चिनगारी भी सारे विश्व के जाज्वल्य प्रेम को भस्म कर देने के लिए पर्याप्त है। बोलिये, मेरी स्वतंत्रता पर आक्रमण करने का आपका विचार क्या अब भी बना है ?

शंकर : देवी, तुम्हारी स्वतंत्रता का पोषण करने के लिए ही मुझे विवश होकर अपने ही विचार पर दृढ़ रहना पड़ता है। तुम्हारी स्वतंत्रता की जितनी यथार्थ चिंता मुझे है, उतनी किसी दूसरे को नहीं। स्वतंत्रता में ही मेरी उत्पत्ति हुई और स्वतन्त्रता के जीवन पर ही मेरा संवर्द्धन हुआ। अपनी वह जीवन रूपी स्वतंत्रता तुम्हारे प्रेम के कारण मैंने विसर्जन कर दी। कम-से-कम मेरे इस आत्म-त्याग के लिए तो मेरे शब्दों का तुम आदर करो।

सती : ये मुंह-देखे की बातें मैं खूब समझती हूं। आपकी अपेक्षा ऐसी बातें प्रजापति के मंत्रियों के मुख से अधिक शोभा देतीं। मैं आपकी इन मीठी-मीठी बातों से धोखा नहीं खाऊंगी। अब अंतिम बार ही पूछती हूं, आप मुझे जाने देते हैं या नहीं ?

शंकर : अपने कल्याण के लिए, मेरे कल्याण के लिए, संपूर्ण विश्व के कल्याण के लिए तुम दक्ष के यज्ञ में मत जाओ, यह मेरी तुमसे प्रार्थना है।

सती : हृदय की कटुता मधुर शब्दों के पुटों से नहीं जाती रहती। दक्ष

को तो आप दीर्घद्वेषी कहते हैं ? और आप ? आपका भी क्या यह दीर्घद्वेष नहीं ?

रति : सती, जल्दी बताओ तुम चलती हो या नहीं ?

सती : हां, मैं चल रही हूं। (जाने लगती है, शंकरजी आंखें बंद कर लेते हैं।) आंखें क्यों बंद कर रहे हैं ? क्या मुझे जाते हुए देखा नहीं जाता आपसे ? (निकट आकर) ऐसा क्यों करते हैं देव ? मैं जाऊंगी, यह पत्थर की लकीर है। फिर केवल 'हां' कह देने में आपको क्या कठिनाई है ? मैं कुछ नहीं जानती, आपको मुझे अनुमति देनी ही होगी।

शंकर : मैं कदापि अनुमति नहीं दूंगा। मेरी दृष्टि आगे की घटनाओं पर है। पर तुम बिना आगे देखे पैर रख रही हो। मेरी आज्ञा को तोड़कर यदि तुम जाओगी, तो तुम्हारा हाथ मैं इस तरह पकड़ रखूंगा।

सती : अपनी स्वतंत्रता के लिए प्रेम के साम्राज्य के बंधनों को तोड़ना चाह रही, यह दाक्षायणी उस हाथ को इस प्रकार छुड़ाकर, इस तरह चली जायगी। (रति के साथ चल देती है।)

शंकर : (मन्मथ से) जाओ, तुम भी यहां से निकल जाओ। नहीं तो मेरी क्रोधाग्नि में तुम्हारी आहुति पड़ जायगी। जाओ। (मन्मथ जाता है।) (स्वगत) हे विश्वव्यापक नारायण, होनेवाले अपमान के दुःख को सहन करने की शक्ति तू ही मुझे दे। सती, सती, इस हृदयासन पर से तुम्हारा आसन क्यों डगमगाने लगा। तुम्हारे त्याग के दर्शन से मुझमें गृहस्थी के प्रति रुचि उत्पन्न हुई। तुम्हारा वह अलौकिक प्रेम अब कहां गया ? अब प्रलय-काल आयगा। नाश का विनाश ही शंकर का महाप्रलय है। और जो मेरा प्रलय वही विश्व का संहार। नहीं, सती नहीं, यह वियोग मुझसे सहा नहीं जाता। सती, सती इस पगले से क्या पुनः मिलोगी ? मन कहता है, सती की पुनः भेंट नहीं होगी। तो फिर आगे क्या होगा ? हे विश्वरक्षक नारायण, अब आगे क्या होगा ? . . . (परदा गिरता है।)

चतुर्थ अंक

दृश्य एक

(भृंगी और भृंगी)

भृंगी : अब हम क्या करें ? मां के पीछे-पीछे हम भी आये और नगर की सीमा तक पहुंच गए। मां तो भीतर चली गईं। नगर में अब हम कैसे प्रवेश करें !

भृंगी : प्रश्न तो बड़ा विकट है। कुछ समझ नहीं पा रहा हूं कि क्या किया जाय ? यदि सब गणों को बुलाकर आक्रमण कर दें, तो प्रवेश-द्वार अभी खुल जायगा। पर मां क्या कहेंगी ? यदि कोई मुझे यह विश्वास दिला दे कि मां को यह अच्छा लगेगा तो एक क्षण के भीतर ही मेरा यह सींग दक्ष की छाती में घुस ही गया समझो।

भृंगी : और देव की आज्ञा ?

भृंगी : देव की हो, या मां की हो—आज्ञा एक ही होगी। देव तो रह गए दूर। पर मां के इतने निकट होते हुए भी हम उनसे भेंट न कर पावें, यह कितनी विचित्र बात है ? नंदी बड़ा भाग्यशाली है, इसमें संदेह नहीं। जब उसने देखा कि मां क्रोध से भरी हुई जा रही हैं, तब वह धीरे-से उनके मार्ग में लेट गया। फिर मां भी विवश हो गईं। उसपर बैठकर ही मां को यहां आना पड़ा और उसके साथ ही वह भी भीतर चला गया। अरे-रे, मेरे भी यदि दो सींग और चार पैर होते तो इस समय आनंद आ जाता।

भृंगी : हां भई, मनुष्यों को भी जहां प्रवेश नहीं मिलता, वहां पशु सहज जा सकते हैं। केवल पशुत्व का सिक्का भर लगा होना चाहिए कि काम चल जाता है। फिर कहीं भी प्रवेश करने के लिए

कोई बंधन नहीं।

भृंगी : पर अब क्या करें ?

भृंगी : यही तो मैं भी नहीं समझ पा रहा हूं। वह देखो, मन्मथ यहीं आ रहा है। वह कदाचित भीतर प्रवेश करने के लिए हमारी कुछ सहायता कर सकेगा। (मन्मथ आता है।)

मन्मथ : अरे वाह ! तुम लोग भी पहुंच गए यहां ? क्या तुम्हारे महादेव भी आये हैं ?

भृंगी : मां के यहां आ जाने के बाद से महादेव आंखें मूंदकर बैठे हुए हैं। अगर हम उनसे कुछ पूछते हैं, तो उत्तर ही नहीं देते।

मन्मथ : फिर तुम यहां कैसे आये ?

भृंगी : मां नंदी पर बैठकर अकेली ही निकल पड़ी थीं। यह देख हम भी उनके पीछे-पीछे निकल पड़े और यहां तक आ पहुंचे। पर अब हम मां से कैसे मिलें ?

मन्मथ : तुम्हारी पोशाक से तुम शंकर के गण लगते हो। यहां तुम्हें सब पहचान लेंगे—और शंकर के गणों को इस नगर में प्रवेश करने का अधिकार नहीं है।

भृंगी : तो अब तुम्हीं कोई उपाय बताओ, जिससे हम भीतर प्रवेश कर अपनी मां से मिल सकें।

मन्मथ : (सोचकर) उपाय ? उपाय है, उपाय है। तुम मेरी तरह पोशाक पहन लो। द्वार-रक्षक सोचेगा कि तुम मेरे ही अनुचर हो। वह तुम्हें नहीं रोकेगा और फिर तुम लोग मेरे साथ भीतर चले चलना।

भृंगी : पोशाक ? पोशाक का क्या मतलब ?

मन्मथ : पोशाक का अर्थ है शरीर के आच्छादन—ये कपड़े आदि।

भृंगी : मतलब ? या तुम इन आच्छादनों को शरीर से अलग कर सकते हो ? धत्तेरे की ! मैं तो अभीतक यही समझ रहा था कि यह सब तुम्हारे शरीर का ही चमड़ा है। बताओ उतारकर। बताओ, जरा हम भी तो देखें !

मन्मथ : यह देखो—यह है सेला, यह कंचुक और यह रहा किरीट।

भृंगी : अरे, तो क्या ये तुम्हारी जटा नहीं ? और ये जुगनू ? ये तो दिन में भी कैसे मस्त चमक रहे हैं ?

मन्मथ : अजी, ये जुगनू नहीं। ये हीरे हैं, हीरे। अब क्षण भर के लिए तुम यहीं ठहरो। मैं तुम्हारे लिए पोशाक लिये आता हूं।

शृंगी : क्या आश्चर्य है ! मस्तक की सारी जटाएं इतने-से ढक्कन के नीचे कैसे समा जाती हैं ?

भृंगी : तुम तो जटा ही लिये बैठे हो, इसके भीतर तो समूचा सिर ही समा जाता है।

शृंगी : सिर को पूरा ढक देनेवाला यह छोटा-सा ढक्कन संसार पर कौन-सा संकट ला दे, इसका ठिकाना नहीं। इसे हाथ में लेते ही मुझे बड़ा अजीब-सा लगने लगा है। क्या थोड़ी देर के लिए इसे सिर पर रखकर देखूं ?

भृंगी : क्यों व्यर्थ हाथ लगाते हो उसे। न जाने सिर पर ठीक-से बैठेगा या नहीं ? छोड़ दो उसे। कहीं टूट-टाट न जाय !

शृंगी : अपना सिर ढांक लूं क्या इस ढक्कन से ?

मन्मथ : ज़रा ठहरो। अब पूरी पोशाक ही तुम्हें पहनाये देता हूं। (वह पूरी पोशाक उन्हें देता है। वे लोग पोशाक पहनते समय अनेक गलतियां करते हैं। मन्मथ उन गलतियों को ठीक करता जाता है।) बस, अब इतना और पहन लो कि काम बन जायगा।

शृंगी : इसीकी तो मुझे भी जल्दी पड़ी हुई है।

मन्मथ : (भृंगी के सिर पर किरीट पहना देता है और शृंगी के पास आकर) अरे, यह किरीट तुम्हारे सिर पर कैसे रहेगा ?

शृंगी : क्यों भला ? भृंगी के सिर पर कैसा रहा ? फिर मेरे सिर पर क्यों नहीं आयगा ?

मन्मथ : तुम्हारा यह सींग जो है। यह रुकावट डालता है न ?

शृंगी : अरे-रे, अगर मेरे बिल्कुल ही सींग न होता, तो बड़ा अच्छा था।

भृंगी : तुम्हें तो बड़ा अभिमान था न अपने सींग पर ? अभीतक तुम्हें दो सींगों की चाह थी, परंतु किरीट के पाते ही क्या तुम्हें सींगों से एकदम इतनी घृणा हो गई ?

भृंगी : थोड़ा प्रयत्न करके देखो। जरा दबाओ जोर से आप ही आप जम जायगा।

मन्मथ : और कहीं सींग ही टूट गया तो ?

भृंगी : मुझे कोई आपत्ति नहीं। टूट जाने दो।

मन्मथ : और यदि किरीट ही टूट गया तो ?

भृंगी : अरे हां, यह अवश्य एक बड़ी कठिनाई है। किरीट का टूटना उचित नहीं। अब क्या करूं। अच्छा ठहरो। सामने की शिला पर जोर से अपना सिर पटके देता हूं, जिससे सींग टूट जायगा।

मन्मथ : ठहरो। ऐसा मत करो। कोई दूसरा उपाय निकालता हूं। (कमर से सेला खोलता है और उसे सिर के आसपास लपेट देता है।) वाह, अब ठीक जमा। यही नहीं, बल्कि यह एक नई खोज है। अब सींग की कठिनाई बिल्कुल दूर हो गई। जिसके सिर पर सींग होने के कारण किरीट या मुकुट सिर पर न जमते हों, वे अपने सींगवाले सिर पर इसी तरह दक्षिणोत्तर छोर का सेला लपेट लें, जिससे प्रतिष्ठा रह जायगी और शोभा भी बढ़ेगी। आगामी पीढ़ी के मुकुटधारी लोगों पर भृंगी ने ये महान उपकार किये हैं, इसमें संदेह नहीं।

भृंगी : चलो भृंगी, उस नाले के किनारे जाकर पानी में देखें हमारा यह वेष हमें कैसा फबता है ?

मन्मथ : वेष देखने को पानी में देखने की क्या आवश्यकता है। यह लो, मैं तुम्हें एक दूसरा चमत्कार दिखाता हूं। (दर्पण देता है।) इसमें देखो।

भृंगी : यह तो केवल लकड़ी है।

मन्मथ : हर चीज की दो बाजुएं होती हैं। दूसरी बाजू देखो।

भृंगी : (देखकर) अरे वाह, इस पटिये पर यह पानी कैसे रुका रहा ?

मन्मथ : यह दक्ष प्रजापति के घर का चमत्कार है। अच्छा, अब यह धनुष लो और यह तूणीर पीठ पर लटका लो। वाह, अब ठीक जमा। भृंगी, अब देव की तरह इस नगर की स्त्रियां तुम्हारे भी गले पड़ेंगी।

शृंगी : किस नाते ? अर्द्धांगिनी बनेंगी या मां ?

मन्मथ : अरे पागल, अर्द्धांगिनी बनेंगी। अब तुम्हें इतनी अर्द्धांगिनीयां मिलेंगी कि तुम्हारा अपना अंग स्वयं तुम्हारे ही अधिकार में नहीं रह पायगा। वही सर्वांगिनी बन जायेंगी।

भृंगी : नहीं-नहीं। इतना-भर मत होने देना।

शृंगी : हां। ये स्त्रियां मां के नाते ही अच्छीं। अगर अर्द्धांगिनी हो गईं, तो सारे शरीर को भड़का देती हैं। हमारे महादेव की दशा देख लो क्या हो गई है। वही उनकी अर्द्धांगिनी हमारी मां होने के कारण हमारी सभी इच्छाएं किस तरह बड़े प्रेम से सदा पूरी करती रहती हैं। नहीं रे भाई, भगवान बचाये इस अर्द्धांगिनी से।

मन्मथ : चलो। मैं अब तुम्हें ढंककर ही ले चलता हूं। (उन्हें परदा-नशीन करके ले जाता है।)

दृश्य दो

(कश्यप, प्रसूती और मायावती)

कश्यप : महारानी, मैं मानता हूं कि प्रसंग बड़ा विकट है। पर करूं क्या ? प्रजापति के मन के विरुद्ध मैं कुछ नहीं कर सकता। ब्रह्माजी द्वारा दिये गए अधिकार का वह दुरुपयोग कर रहे हैं, इसमें संदेह नहीं और अधिकार के इस अतिक्रमण का प्रायश्चित उन्हें भोगना ही होगा।

माया : पर तुम उन्हें अधिकार का अतिक्रमण करने ही क्यों दे रहे हो ?

कश्यप : मैं कर ही क्या सकता हूं ? जिस तरह तुमने उपदेश की दो बातें उनसे कहीं, उसी तरह मैंने भी उन्हें समझाया। परंतु जहां दुराग्रह चरम सीमा पर पहुंच चुका है, वहां उपदेश का क्या फल ?

प्रसूती : पति-निन्दा सुनना ही मेरे भाग्य में बदा है, यही सच है। परंतु सत्य सदा सत्य ही रहेगा। तुम उनकी निंदा न करो, इसलिए

अधिकार के बल पर, बहुत हुआ तो मैं तुम लोगों का मुंह बन्द कर दूंगी। पर संसार का मुंह कैसे बन्द करूंगी ?

माया : क्यों ? अधिकार के बल पर संसार का मुंह भी बंद हो सकता है।

प्रसूती : पर मन ? योगिनी, संसार के मन पर किसी भी प्रजापति का शासन नहीं चल सकता। सारे विश्व को महादेव के प्रति आदर है। समस्त विश्व की सहानुभूति प्राप्त करने का यद्यपि महादेव ने कभी कोई प्रयत्न नहीं किया . . .

माया : इसीलिए तो सारा विश्व उन्हें महादेव कहता है। मन की सर्व-व्यापकता को विश्व के अस्तित्व के साथ तादात्म्य करके वह सबके कल्याण की निरंतर चिन्ता करते रहते हैं, इसीलिए उन्हें शिव कहते हैं। दैवयोग से ये शिव तुम्हारे दामाद हुए हैं। परंतु तुम शत्रु को छोड़कर उनसे और कोई भी नाता जोड़ने को तैयार नहीं, इससे अधिक दुर्भाग्य और क्या होगा ?

प्रसूती : पर मैं यह कहां कहती हूं कि दामाद का नाता हमें भूल जाना चाहिए।

माया : तो तुमने यज्ञ को रोकने का प्रयत्न क्यों नहीं किया ?

प्रसूती : मैं रोकने का प्रयत्न करती ? योगिनी, मैं दक्षप्रजापति की केवल छाया हूं। जिस प्रकार उनकी हलचल होगी, उसी तरह मुझे भी हिलना होगा। मैं उनकी इच्छा के विरुद्ध कैसे जा सकती हूं ?

कश्यप : आर्य पत्नी का यह धर्म ही है। परंतु पति की बुद्धि यदि भ्रष्ट हो रही हो, तो उसे उचित मार्ग दिखाना भी पत्नी का धर्म है।

प्रसूती : कश्यप, मैं दुर्बल हूं। पति के मन को तनिक भी दुखाने का धैर्य मुझमें नहीं। इसलिए मैं भी आखिर क्या करूं ? अब यही देखो न, मैंने हर तरह से प्रयत्न करके सती को निमंत्रण भेजना चाहा, पर उसका कोई उपयोग न हुआ।

कश्यप : मतलब ? क्या तुम्हारी इच्छा थी कि सती इस यज्ञ में आवे ? नहीं-नहीं ! महारानी, सती के इस समय यहां आने से बड़ा अनर्थ हो जायगा। यह देखकर कि उसके पति का अपमान

करने के लिए, नहीं, बल्कि उसका प्रत्यक्ष नाश करने के लिए ही यह यज्ञ हो रहा है, वह क्रोध से भड़क उठेगी।

माया : तब तो यदि सती आ जाय तो बड़ा अच्छा होगा।

प्रसूती : क्या तुमने सुना नहीं, कश्यप ने अभी क्या कहा ?

माया : हां, वह सुनकर ही तो मुझे लग रहा है कि सती आ जाय तो बड़ा अच्छा होगा, अन्यथा अहंकार से मदान्ध हुए दक्ष को यह पता कैसे चलेगा कि विश्व में उसकी अपेक्षा भी कोई बलवान है। संपूर्ण विश्व की पूर्णाहुति लेने के बाद ही दक्ष के यज्ञ में विघ्न उपस्थित हों, तभी मुझे कुछ संतोष होगा।

प्रसूती : ऐसी अशुभ बात नहीं कही जाती। पहले से ही घबराये हुए मेरे मन को और क्यों कंपा दे रही हो ? बेचारा विश्व सुख में रहे और उस विश्व के साथ ही मेरे पति का भी कल्याण हो। ऐसी अशुभ कल्पना करने के अतिरिक्त क्या तुम्हें दूसरा कोई उपाय नहीं सूझता ?

कश्यप : अब काहे का उपाय ? यज्ञ की समाप्ति निकट आ रही है। क्या बताऊं मायावती, यद्यपि मुझे ऐसा नहीं लगता कि यह यज्ञ निर्विघ्नता से समाप्त हो, फिर भी मैं यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि उसमें कोई विघ्न आवे। यज्ञ की पूर्त्ति से जिस तरह जगत का अकल्याण होगा, उसी तरह उसे भंग कर देने से भी होगा। मेरी बुद्धि तो अब बिल्कुल काम ही नहीं कर रही है। अब तो जो भगवान की इच्छा होगी वही होगा।

माया : यज्ञ प्रारंभ कराने से पहले तुम्हारी बुद्धि कहां गई थी ?

कश्यप : मेरी बुद्धि दक्ष की कक्षा में अटकी पड़ी है। मायावती, कहने में लज्जा आती है, यह सच है। पर सच बोलना ही पड़ता है। इसीलिए तुमसे कहता हूं कि दक्ष की इच्छा के विरुद्ध जाने का साहस करने की शक्ति मुझमें नहीं। ब्रह्माजी की अनुज्ञा से मैं दक्ष के अधिकार के हाथ बिक गया हूं। इस कारण अपने निजी मतों को स्पष्ट शब्दों में उसे सुनाने की योग्यता अब मुझमें नहीं रही।

प्रसूती : आज दिनभर रति और मन्मथ कहीं दीखे नहीं । क्या तुमने उन्हें किसी काम से कहीं भेजा है ?

कश्यप : नहीं तो । यज्ञ के लिए जो गंधर्व और किन्नर आये हुए हैं, उनका स्वागत करने के सिवा उन्हें दूसरा कोई काम नहीं दिया गया है ।

प्रसूती : वे कहीं हिमालय न चल दिए हों ?

माया : यदि ऐसा हुआ हो, तो बहुत अच्छा है ।

प्रसूती : योगिनी, आज तुम ऐसा क्यों कह रही हो ? आज ही तुम्हें ऐसा क्यों लगने लगा कि हमारा अकल्याण हो ?

माया : पहले इसका विचार करना चाहिए कि कल्याण और अकल्याण की व्याख्या किसके मत से निश्चित की जाय । एक का कल्याण ही दूसरे का अकल्याण हो जाता है । इसलिए एक व्यक्ति के अकल्याण से यदि सारे संसार का कल्याण होता हो, तो उसे व्यक्ति के अकल्याण की इच्छा मैं क्यों न करूं ? सार्वत्रिक कल्याण के आगे व्यक्ति का कल्याण मुझे तुच्छ लगता है ।

प्रसूती : मन्मथ हिमालय गया भी हो, पर प्रश्न यह है कि क्या महादेव सती को यहां आने देंगे ? कश्यप, तुम्हीं बताओ । यदि सती इस समय मुझसे मिलने यहां आये, तो यज्ञ में क्या सचमुच विघ्न उपस्थित हो जायगा ?

कश्यप : मुझे ऐसा लगता अवश्य है । पर कौन कह सकता है—यदि अपमान सहन करने के लिए सती तैयार हो तो कोई विघ्न उपस्थित न होगा । सब कार्य अच्छी तरह हो जायगा ।

प्रसूती : तब तो वह न आये यही अच्छा । गरीब बेचारी मेरी बेटी ! वहीं सुख से रहे । यदि मुझसे भेंट न हुई तो कोई चिंता नहीं । पर कश्यप, वह अपमान कभी नहीं सहेगी । सती यदि यहां आई. . . . (रति प्रवेश करती है ।)

रति : सती यहां आ गई है ।

प्रसूती : हाय रे दुर्भाग्य ! सती आ गई ! कश्यप, सती आ गई ! योगिनी, सती आ गई ! अरे रे, सती आ गई ! अब मैं क्या करूं ?

कश्यप : यह क्या खेल है ? रति कहां है सती ?

रति : यह देखो (सती आती है) यह पता लगते ही कि दक्ष के घर यज्ञ हो रहा है, पति की अनुमति की भी परवा न करके सती मायके दौड़कर चली आई ।

सती : यह क्या मां ? तुम मेरा स्वागत क्यों नहीं कर रही हो ? रो क्यों रही हो ? मां, बोलो न ? रोती क्यों हो ?

प्रसूती : बेटी, यहां तू क्यों आई ? क्या हिमालय से इतने शीघ्र ऊब उठी ?

सती : मां, हिमालय से मैं कैसे ऊबूंगी ? वह मेरा अपना घर जो है । कश्यपजी, मां को क्या हो गया है ? वह यह अंटशंट क्या बक रही है ?

कश्यप : सती, यह मां का हृदय बोल रहा है । मनुष्य की जिह्वा और मां का हृदय, दोनों में आकाश-पाताल का अंतर होता है ।

सती : मां, मेरे आने से क्या तुम्हें दुःख हुआ ?

प्रसूती : हां बेटी, मुझे मरणांतक दुःख हुआ ।

सती : मां, मेरे मायके में उत्सव हो रहा है, क्या मैं उसे न देखूं ? क्या अपनी प्यारी मां से कभी मिलूं भी नहीं ?

प्रसूती : बेटी, तू आई, मुझसे मिली, तेरा मुखावलोकन करके मुझे आनन्द हुआ । परंतु बेटी, मैं तुझे हृदय से तभी लगाऊंगी जब तू यह स्वीकार करे कि इसी समय जैसी आई है, उसी तरह तू हिमालय लौट जायगी । यह देख, मेरे बाहु कांप रहे हैं । मेरा हृदय इतना धड़क रहा है जैसे अब फट जायगा । मेरे सारे प्राण मेरी आंखों में आकर सिमट गए हैं । पर बेटी, जबतक तू तुरंत कैलास लौट जाना स्वीकार नहीं करेगी, तबतक मैं तुझे हृदय से नहीं लगाऊंगी । बेटी, हां कहदे—हां, कहदे बेटी, कह दे—लौट जाऊंगी, मेरी बात स्वीकार कर ले बेटी ?

कश्यप : (स्वगत) ओह, यह प्रसंग मेरे विरक्त हृदय को भी कंपा दे रहा है । (प्रकट) महारानीजी, यज्ञारंभ का समय हो गया है । मैं अब जाता हूं । बेटी सती, यदि तुम चाहती हो कि तुम्हारे पिता दक्षप्रजापति का कल्याण हो, तो यज्ञ-मंडप में भूलकर

भी न आना, यही मेरा अंतिम निवेदन है। (जाता है।)

सती : यह क्या चमत्कार है ? कश्यपजी ने जाते समय मुझे आशीर्वाद नहीं दिया। मेरी अनुपस्थिति में यहां के क्या सारे आचार ही बदल गए ? योगिनी, तुम भी क्यों चुप हो ? मेरा हृदय भय से कांप उठा है। रति, यह क्या बात है ? कम-से-कम तुम्हीं मुझे सारा हाल बता दो। सभी क्यों चुप हैं ? कोई बोलता क्यों नहीं ? मां, यदि तुम इस तरह चुप रहोगी, तो मैं आखिर क्या समझूं ? मां-मां यह सब क्या है ? कुछ बताओ तो। रो क्यों रही हो। हे ईश्वर, यह मैं कैसे सहन करूं ? इस कल्पना से कि यहां पहुंचते ही तुम मुझे जोर से अपने हृदय से लगा लोगी, मुझे मार्ग में आनंद की गुदगुदी हो रही थी। मां, बिना बुलाये भी मैं आ गई—मैंने मानापमान का कोई विचार नहीं किया—केवल तुम्हारे लिए, पति की अनुमति की भी परवा न कर, तुम्हारे पास दौड़ी आई। सोचा था, तुम आनंद से खिल उठोगी, दौड़कर मुझे हृदय से लगा लोगी। पर यह क्या कर रही हो तुम ? आंखें खोलो ? यदि तुम ही इस तरह सिसकियों-पर-सिसकियां लेने लगो, तो क्या मेरी आंखें भी नहीं बरस पड़ेंगी ? मां, क्या मैं अश्रु बहाने मायके आई हूं ?

प्रसूती : कहां का मायका बेटी ? जा—अपने पति के घर लौट जा।

सती : क्या तुमसे गले भी न मिलूं ? यह कैसे होगा मां ? मेरा मन कर रहा है कि दौड़कर तुमसे लिपट जाऊं। परंतु तुम्हारी भुजाएं फैले बिना मैं आगे कैसे बढ़ूं ?

प्रसूती : पहले यह वचन दे कि आलिंगन करने के बाद तू एकदम यहां से सीधी कैलास चली जायगी।

सती : मां, मैं यज्ञ देखने आई हूं।

माया : सती, क्या तुझे मालूम है कि यह यज्ञ किसलिए हो रहा है ?

प्रसूती : योगिनी, तुम्हें मेरे सिर की सौगंध है। अब एक शब्द भी आगे मत बोलो।

सती : क्यों ? क्या मैं कोई पराई हूं ?

प्रसूती : हां बेटी, तू पराई से भी पराई है। मैं तेरी बैरिन हूं।
सती : यह कैसी ऊटपटांग बात कर रही हो तुम ? मां, तुम मेरी बैरिन कैसे हो सकती हो ? अब मेरा धीरज टूट रहा है। मां के सामने अभिमान क्या ? मान क्या ? (जाकर उसे आलिंगन करती है) मां-मां बोलो, बताओ आखिर बात क्या है ? मुझे बताओ न ?
प्रसूती : (उसे कसकर आलिंगन देते हुए) दूर हो, बेटी। दूर हो। मुझे इस तरह मोह में न फंसा।
माया : नौ महीने भार वहन करनेवाली मां को उसकी बेटी यदि मोह में न फंसाए, तो मानवी माया का प्रभाव ही क्या रहा ? झूठी माया—सब झूठी माया।
सती : माया झूठी होगी। योगिनी, माया भले ही झूठी हो, पर उसका आवेग बिल्कुल सच्चा होता है। जगत में यदि कुछ सत्य है, तो वह है केवल माया का यह आवेग। मा, मेरे आने से सर्वत्र यह उदासी-सी क्यों छा गई है। बताओ, मुझे संशय में मत रखो। उधर कैलास पर महादेव क्या कर रहे होंगे। उनका मन तोड़-कर मैं यहां आई और यहां आकर देखती हूं तो सभी लोगों ने मुझसे मुंह फेर लिया है। मैं कैसी अभागिनी हूं कि यहां आते ही मां मुझसे लौट जाने को कहे ? मां, मेरे शृंगी और भृंगी मुझे मां ही कहते हैं। तुम्हें छोड़कर यदि मैं उनसे मिलने गई होती तो आनन्द से नाच कर वे सारा कैलास हिला देते। यह देखते ही कि मैं क्रोध से जा रही हूं, बेचारा नंदी पशु होकर भी दौड़ता हुआ मेरी खोज में आया। मेरे उसकी पीठ पर बैठते ही उसकी आंखों के आंसू नहीं रुके। और तुम लोग तो मनुष्य हो। अरे-रे, क्या मनुष्य से पशु ही सुहृदय होते हैं। नंदी जिस प्रकार दौड़ता आया, उसी तरह शृंगी और भृंगी भी। (मन्मथ प्रवेश करता है।)
मन्मथ : वे भी आ गए हैं। ये देखो शृंगी और भृंगी।
सती : कहां हैं वे ? (शृंगी और भृंगी को देखकर) अरे, यह क्या स्वांग बना रखा है तुम लोगों ने ? (शृंगी और भृंगी सती के

चरण छूकर) मां-मां, हमें क्यों अकेला छोड़कर आ गई ?

सती : उठो बेटो। पर यह क्या स्वांग बना रखा है तुमने ? मन्मथ, यह सब तुम्हारी ही करतूत दिखती है ?

शृंगी : हां। मन्मथ मिल गया था। इसीलिए तुमसे भेंट हो सकी। यह भृंगी का किरीट और यह मेरा। क्यों मन्मथ, हां-हां, यह मेरा शिरस्त्राण। देखा मां, मेरा सींग अब बिल्कुल नहीं दीखता। अब कौन पशु कहेगा मुझे ?

सती : नहीं बेटा, तुम पशु ही रहो—ये मनुष्य देखो—अरे-रे, मन्मथ, यदि तुम मुझे पहले ही बता देते कि मेरे आने से यहां सबकी इस तरह घुटन होगी, तो देव के मन को दुखाकर, मैं इतनी दूर कभी न आती।

मन्मथ : घुटन ? पर यह घुटन क्यों ? महारानीजी, आप खिन्न क्यों हैं। आपके मन की बात जानकर मैं सती को यहां ले आया। इसके लिए आपको मुझे शाबासी देनी चाहिए।

प्रसूती : मेरा मन ? प्रजापति की पत्नी के पास मन होता भी है ?

शृंगी : मां ?–तुम नहीं—यह हैं हमारी मां—मां, अब मायका हो गया तुम्हारा। चलो, अब घर चलें।

सती : मायका हो गया। मां, मेरे इन बच्चों को देखो। तुमने जिस तरह नौ महीने मुझे पेट में पोसा है, वैसे ये बच्चे नहीं हैं, समझीं ? ये मेरे भोले शंकर के भोले अनुचर हैं। इन्हें देखो और अपनी बुद्धिमान और सुधरी हुई प्रजा को देखो। मां, बोलो-बोलो....

भृंगी : अरे भृंगी, देखा ? मां के भी मां होती है। (प्रसूती से) अजी ओ मां की मां, कृपा करके हमारी मां को अब वापस भेज दो न ? हमारे महादेव हमारी मां के लिए वहां व्याकुल हो उठे हैं।

प्रसूती : तुम्हारी मां के कारण तुम्हारे महादेव पर न जाने कौन-सा संकट आनेवाला है ? योगिनी, जो होना हो, सो हो जाय। मैं सोचती हूं, तुम सती को सारा हाल साफ-साफ बता दो।

माया : सती, तुम महादेव की रानी हो। यह दक्षप्रजापति का राज्य है और दक्षप्रजापति महादेव का कट्टर शत्रु है। दक्ष अहंकार से इतना मदांध हो गया है कि उसे यह स्मरण भी नहीं रहा कि उसके शत्रु की पत्नी उसकी ही औरस बेटी है। उसने जो यह यज्ञ आरम्भ किया है, उसकी समाप्ति आज ही होनेवाली है, और आज ही तू आई है। तेरे आगमन से इन्हें आनन्द नहीं हुआ। मुझे भी नहीं हुआ। पर तू आ गई, यह अच्छा हुआ। सती, पहले मैं तुझसे प्यार करती थी, जैसे तू मेरी ही बेटी हो। परन्तु अब तू मुझे वंदनीय हो गई है। हे कैलासनाथ की शक्ति-देवि, मैं तुझे प्रणाम करती हूं और अपनी सारी सामर्थ्य आज मैं तेरे चरणों में अर्पित करती हूं। उसके बल से बलवान होकर, आज दक्षप्रजापति को दंड दे।

सती : यह क्या कह रही हो योगिनी? तुम मुझे बड़ी उलझन में डाल रही हो।

माया : प्रजापति के यज्ञ में आज शंकर की पूर्णाहुति होगी। प्रलय का संहार करने के लिए ही यह दक्ष-यज्ञ हो रहा है।...

सती : (क्रोध से) मां, क्या तुम्हारे घर का यज्ञ यही है? बोलो, दक्षप्रजापति क्या चाहते हैं? बेटी का वैधव्य या दामाद की विधुरावस्था? मां, दक्ष का दांव चूक गया। शंकर की शक्ति मैं हूं। मेरी पूर्णाहुति से दक्ष-यज्ञ सफल हो जायगा न? अब क्यों रोती हो? बोलो मां। शंकर से लड़ने की सामर्थ्य तुम्हारे प्रजापति में नहीं। तुम कदाचित मुझसे पूछोगी—'तू तो अभी उनसे लड़कर आई है?' हां, मैं लड़कर आई हूं। शंकर से लड़ने की शक्ति शंकर की शक्ति में ही है। शंकर भिखारी हैं, प्रजापति ऐश्वर्यशाली हैं। परंतु मां, सारे जगत को प्रलय कर डालने की सामर्थ्य रखनेवाले ये दुर्बल देवता (भृंगी और भृंगी की ओर अंगुली दिखाकर) उनके सहायक हैं। यही बे-घर-द्वार के देवता अपनी दुर्बलता के बल पर प्रजापति का सारा ऐश्वर्य निगल जायेंगे, समझीं? (मायावती से) योगिनी,

इन्हीं दुर्बल देवताओं में तुम भी एक हो। मुझे आशीर्वाद दो, जिससे मैं अपने काम में यश प्राप्त करूं।

माया : जाओ देवी—हे अखिल जगत की संहारकारिणी देवी, जाओ तुम कृतार्थ होओ। (प्रस्थान)

प्रसूती : नहीं, बेटी नहीं। ऐसा न करना। अपनी दुर्बल मां पर दया कर।

सती : मां, तुम दुर्बल नहीं। तुम महान् ऐश्वर्यशाली दक्षप्रजापति की रानी हो। मैं एक भिखारी की गृहिणी हूं। अब तुम्हारा और मेरा संबंध समाप्त हो गया। (जाती है। मूर्छित हो जाती है।)

भृंगी : ठहरो मां, हम भी आ रहे हैं।

मन्मथ : मेरी सुनो। तुम अभी मत जाओ। रति, क्या तुम डर गईं? डरो नहीं। आगे मैं जाता हूं। इन दोनों के साथ तुम यज्ञ-मंडप के द्वार पर रुकी रहना और जबतक मैं न पुकारूं, आगे मत बढ़ना।

रति : अब प्रलय होगा। मैं तो डर के मारे मरी जा रही हूं। प्राणेश्वर, कोई भयंकर संकट तो नहीं है न?

मन्मथ : जो होगा, वह प्रत्यक्ष ही दीख जायगा—जाओ। इन्हें भी अपने साथ ले जाओ।

भृंगी-भृंगी : जय शंकर! हर हर!...

मन्मथ : अरे, चुप। अभी नहीं। इसके लिए अभी समय है। अभी बिल्कुल चुप रहो। जाओ। (जाते हैं।) (स्वगत) वाह रे मन्मथ, शाबास! अब ठीक जमा। सभी से अब बदला चुकेगा। दक्ष ने कहा—नहीं, फिर भी सती को शंकर के गले से बांध ही दिया। अभी मायावती को यश मिल रहा था, पर मैं क्या ऐसा मुफ्त का यश उसे हजम होने दूंगा? अब सती के मरने पर शंकर रोयेंगे बैठे-बैठे। और फिर मायावती को भी मुंह की खानी पड़ेगी! वाह रे मन्मथ, इस त्रिभुवन में तू ही एक धन्य है!

दृश्य तीन

(आसनस्थ दक्ष और यज्ञ-वेदी के सामने ऋत्विज आदि)

दक्ष : हे ऋषियो, मुनियो, ऋत्विजो, आज वह आनंद का क्षण निकट आ रहा है। संपूर्ण जगत के सब जीवों को जिसने भयभीत कर रखा है, उस संहार का विकट स्वरूप आज इस यज्ञ-कुंड में भस्मसात होगा। मृत्यु की दाढ़ के नीचे प्रति क्षण नाश की निरंकुश राह देखनेवाले समस्त प्राणी आज आमूलाग्र निर्भय हो जायेंगे। 'संहार' शब्द सृष्टि के शब्दकोश से निकल जायगा और सारे विश्व में अनंतता का साम्राज्य छा जायगा। मृत्यु का भय निकल जाने के कारण भविष्य में अब किसीको किसी-से भी भय खाने की आवश्यकता न रहेगी। सर्वत्र समता, शान्ति और सर्वत्रता गूंज उठेगी। सृष्टि और स्थिति—केवल यही दो भावनाएं शेष रह जायेंगी और आज नाश का विनाश हो जायगा। सबके हृदय को कंपा देनेवाला प्रलय-कर्त्ता रुद्र शंकर आज शक्तिहीन होकर, नष्ट हो जायगा। सारे संसार को यह स्वीकार करना होगा कि जिसे ब्रह्मदेव भी नहीं कर सके, जिसका विष्णु को भी कोई ज्ञान नहीं और जिसके कारण शंकर का कोई अता-पता भी नहीं रहेगा, ऐसे इस अमोघ कार्य को सम्पन्न करने का श्रेय मुझे मिल रहा है। मृत्यु का नाम ही मिट जाने के कारण कोई किसीसे निर्बल नहीं रहेगा। सर्वत्र बलवानों की ध्वजा फहराती रहने के कारण कोई किसी से हार नहीं मानेगा, कोई किसीका पराभव नहीं करेगा, किसीको हराकर कोई श्रेष्ठ नहीं होगा। इस प्रकार सुख की समता होते ही कलह का बीज संसार से नष्ट हो जायगा। देव और दानव का भेद भी नहीं रहेगा। शक्ति और युक्ति का द्वंद नष्ट हो जायगा और सर्वत्र सुख और शान्ति छा जायगी। ऊपरी तौर से असंभव लगनेवाली इस स्थिति को प्रत्यक्ष में आई देखकर, समस्त जीव आश्चर्य-चकित हो जायंगे। त्रिभुवन की निरवता ब्रह्म

हो जायगी और दक्षप्रजापति का नाम अनंत जगत के अजरामर इतिहास में सुवर्णाक्षरों से लिखा जायगा । जब इस भविष्यकालीन सुखपूर्ण स्थिति की कल्पना करता हूं, तब मेरा हृदय भर आता है । यज्ञ-धूम्र से पहले ही चू रहीं इन आंखों में आनंदाश्रुओं की बाढ़ आ जाती है और यह देखकर कि शांति के साम्राज्य की अनोखी और प्रचंड कल्पनाओं को वास्तविक स्वरूप प्राप्त होगा, मुझे विश्वास हो जाता है कि ब्रह्माजी ने मुझे जो यह अधिकार दिया है, उसके लिए मैं बिल्कुल योग्य सिद्ध हुआ । मुझे लगने लगता है कि मैं कृतार्थ हो गया । इस पहली आहुति के साथ. . . (सती प्रवेश करती है ।)

सती : शंकर की यह अमोघ शक्ति तुम्हारे सामने आकर खड़ी हो गई है । दक्ष, यह क्या हो रहा है ?

कश्यप : (स्वगत) बस, हो चुका । प्रलय का संहार करनेवाले का ही आज विनाश होगा ।

दक्ष : कश्यप, यज्ञ-द्वार का अतिक्रमण करके भिखारी यज्ञ-वेदी के पास कैसे आ सके ?

सती : भिखारियों को कहीं कोई रुकावट नहीं होती ।

दक्ष : यह भिखारिन यहां कैसे आई ?

सती : यह भिखारिन दक्ष-दुहिता है । यह भिखारिन शिव की शक्ति है । यह भिखारिन कृतांत-कामिनी है । प्रत्यक्ष उदयोन्मुख महादेव भी जिस भिखारिन की गति को न रोक सके, उसे रोकने की शक्ति दक्ष के ध्वंसोन्मुख दरबार में कहां से आयेगी ? यज्ञ के धुएं से भरी अपनी आंखें पोंछकर इधर देखो । पिताजी, मैं तुम्हारी प्रिय कन्या सती हूं ।

दक्ष : सती नाम की मेरी एक कन्या थी, यह सच है । परंतु भूल के कारण वचनबद्ध होकर, मैंने एक पिशाच को उसकी बलि चढ़ा दी ।

सती : कम-से-कम प्रजापति को तो यह मालूम होना चाहिए कि पतिनिंदा सुनना पत्नी के लिए महा पाप है ।

दक्ष : तेरा पति तेरे लिए बहुत बड़ा होगा। परंतु मेरी दृष्टि में वह एक तुच्छ कीटक ही है। भूतों के साथ नाचनेवाला अनाथ भिखारी भूतों को भले ही भगवान लगे, भूत भले ही उसकी प्रशंसा के पुल बांधते रहें, उसे सिर पर बिठाकर खूब नाचते रहें और भिखारियों के एक निष्कांचन राजा के नाते उसके अज्ञात पराक्रम की विरुदावली भी गाते रहें, पर प्रजापति की दृष्टि में भिखारी भिखारी ही है।

सती : गृहिणी यदि पति-निंदा सहन करने लगे, तो पुरुष किस आधार पर गृहस्थ होगा? प्रत्यक्ष प्रजापति ही गृहिणी के सामने उसके पति की निंदा करने लगें तो उसकी शिकायत कहां की ज़ाय? गृहस्थों को नियमों में बांधना प्रजापति का काम है और उन गृहस्थों की पत्नियों को उन नियमों का पालन करना चाहिए, ऐसी मनु की आज्ञा है। भिखारी की ही क्यों न होऊं, पर मैं गृहिणी हूं। ऐश्वर्यहीन भिखारी की गृहणी ही संपत्ति होती है। भिखारी की इस संपत्ति का अपमान करने की प्रजापति की भी हिम्मत नहीं।

दक्ष : शब्दों का ऐश्वर्य दिखाकर ही भिखारी शान दिखाते हैं। ऐश्वर्य के अभाव को इस प्रकार शब्दों से पूरा करके भिखारी कितना भी बकते रहें, प्रजापति को उसकी परवा नहीं। भिखारियों की बकवास से प्रजापतियों के सिंहासन नहीं डगमगाते। भिखा-रिन, तू जानती है यह यज्ञ किसलिए हो रहा है?

सती : भिखारिन के ऐश्वर्यशाली पिता, यह मालूम होने पर ही मैं यहां आई हूं। बेटी का नाता भूलने की शक्ति यदि तुममें है, तो तुम उस संबंध को भुला दो। मैं भिखारिन हूं, इसलिए मन की अनुदारता मेरे लिए वर्जित है। आंखें पोंछो—ज़रा आंखें पोंछो। यज्ञ के धुएं के साथ ही ऐश्वर्य का धुआं भी ज़रा दूर हटा दो और अपनी भिखारिन बेटी के मुंह से समझदारी की चार बातें सुन लो।

दक्ष : कौन है रे उधर? इस भिखारिन को धक्के देकर बाहर निकाल

दो । (सेवक आते हैं ।)

सती : खबरदार । दक्ष, यदि मुझे धक्के देकर निकालना ही है, तो केवल तुम्हीं मुझे धक्का दे सकते हो । मैं दाक्षायणी हूं—मुझे स्पर्श करने की तुम्हारे सेवकों की मजाल नहीं । प्रेम के बंधनों से जिन बाहुओं ने इस देह को किसी समय अपने हृदय से लगाया था, वही बाहु वात्सल्य का यह बंधन तोड़ सकते हैं । (सेवकों से) जाओ यहां से । (सेवक जाते हैं ।)

दक्ष : यज्ञ-दीक्षा लेने के कारण मैं इस आसन से हिल नहीं सकता, नहीं तो मैं ही तुझे दो धक्के देकर बाहर निकाल देता और चिता-भस्म के पुट पोतनेवाले, व्याघ्रचर्म-भूषित अपवित्र भूत की भूतनी से इतने समय तक अपनी इस पवित्र यज्ञभूमि को मैं भ्रष्ट नहीं होने देता ।

सती : पवित्र यज्ञ-भूमि भ्रष्ट हुई है या शंकर की रानी के चरण-स्पर्श से पुनीत हुई है, इस विषय में बहुत मतभेद होगा । परंतु एक बात अब अवश्य निश्चित हो गई है और वह यह कि मुझसे बेटी का नाता तुमने तोड़ दिया है । है न ?

दक्ष : कन्यादान के दिन ही सती नाम की मेरी कन्या मर गई । यह यज्ञाग्नि इसकी साक्षी है ।

सती : इसीलिए अब आगे की सारी कन्याओं को अनंत काल तक जीवित रखने का कदाचित यह प्रयत्न हो रहा है ।

दक्ष : ऋत्विजों, रुक क्यों गये ? यज्ञ आरंभ करो—हां, होने दो स्वाहाकार . . .

सती : बंद करो अपना स्वाहाकार ।

दक्ष : अरे, यह तो आज्ञा देने लगी ! और तुम लोग भी उसकी आज्ञा सुनकर चुप हो गए ? यज्ञ आरम्भ करो ।

सती : शिवहीन अशिव यज्ञ को शिव की यह शक्ति रोक रही है ।

दक्ष : बड़ी आई कहीं की शिववाली—अशिवता का वह मूर्तिमान पुतला शिव कब हो गया ?

सती : रे अधम, किसीसे भी द्वेष-भाव न रखनेवाले महादेव को इस

प्रकार नाम धरते समय तेरी जीभ जल क्यों नहीं गई ? तुझमें उनके चरणों की धूल की भी योग्यता नहीं । प्रेत-तुल्य देह को ही आत्मा मानकर, उसे चिरकाल जीवन प्राप्त कराने के लिए यज्ञ करानेवाला तू मंदबुद्धि पापी—तेरे निंदा करने से शंकर की योग्यता तिल-मात्र भी कम नहीं होगी । देह को ही सब-कुछ समझने के कारण अनंतकाल तक जीवित रहने की लालसा किसी कायर या भीरु को ही होगी । जो यह समझ गया है कि देहमय जीवन के विना भी अनंत का अस्तित्व है, वह तेरे ऐसे अज्ञानी यज्ञ को कभी हाथ नहीं लगायगा । यदि मैं अपने सामने ऐसा मूर्खता-पूर्ण यज्ञ चलने दूं तो यह महादेव के सह-वास का दुरुपयोग करने जैसा होगा । तेरे ये ऋत्विज तेरे ऐश्वर्य पर मोहित होकर, अपने पेट के लिए तेरी हां-में-हां मिला-येंगे । यह शेखी बघारने के लिए कि हम बड़े वेदपारंगत हैं, चाहे जिस कुकार्य के लिए यज्ञ करने तैयार हो जायंगे । पशुओं के रक्त से यज्ञभूमि को सींच कर स्वर्ग के द्वार खोल देना चाहेंगे । परंतु स्वर्ग के बदले अंत में तुझे भी साथ लेकर नरक में सड़ते पड़े रहेंगे । अपने इन आधारस्तंभों को देख । एक स्त्री के चार शब्दों से ही इनकी घिघ्घी बंध गई । ऐसे स्तंभों पर तेरा यह यज्ञ-मंडप खड़ा है और ऐसी जीवहत्या की आहुतियों से तू विश्व के समस्त जीवों को अमरत्व देने जा रहा है ! धिक्कार है, तेरी इस अहंकारी मूर्खता को !

दक्ष : अरे, इस सिर-फिरी चुड़ैल को कोई धक्के देकर बाहर निकालो न !

कश्यप : दक्ष, यज्ञ-दीक्षा लेने के बाद ऐसा वर्ताव अश्लाघ्य है ।

सती : देख, अब ये गूंगे भी बोलने लगे । शंकर की शक्ति का यह प्रभाव देख और अब भी सावधान हो जा । यज्ञ बंद कर ।

कश्यप : सती, तुम दक्ष की कन्या हो । पिता का इस प्रकार अपमान करना तुम्हें उचित नहीं ।

सती : यज्ञाग्नि की साक्षी से जिसने मुझसे अपना नाता तोड़ दिया,

उसका पक्ष करना उसके आश्रितों को ही शोभा देता है। मुझे उसकी अब परवा नहीं। बोल दक्ष, तू यह यज्ञ बंद करता है या नहीं ?

दक्ष : अरी ओ डायन, दक्षप्रजापति को क्या तू हिमालय का कोई उलूक समझ रही है ? आजतक इस दक्ष ने किसीकी भी कोई सलाह अभीतक नहीं ली और न वह इतना मूर्ख है, जो दूसरों की सलाह से चले। इस यज्ञ का आरंभ करते समय मैंने तुझसे कोई सलाह नहीं ली थी और अब वह तेरी इच्छा से बंद भी नहीं होगा। दक्ष जैसा चाहेगा, उसी तरह विश्व को झुकना होगा। दक्ष इतना दुर्बल नहीं कि संसार के प्रत्येक क्षुद्र कीटक की इच्छानुसार बर्ताव करे। यह तो निर्बल भिखमंगों का काम है कि भूत और पिशाचों को सहलाकर चाहे जैसा ऊधम मचाएं और अपने ही हाथों अपनी आरती उतारें ! परंतु पुरुषार्थी दक्ष को अपनी सामर्थ्य का समर्थन करने के लिए दूसरों के मुंह की ओर ताकने की आवश्यकता नहीं पड़ती। लोग आदर करें, इसलिए उनके मतानुसार चलना दक्ष को लज्जास्पद लगता है। जा, यहां से मुंह काला कर !

सती : मैं यहां से एक तिल-भर भी नहीं हटूंगी। विपरीत बुद्धि से प्रेरित होकर दक्षप्रजापति यदि अधोगति के गर्त में गिर रहा है, तो किसी समय उसको प्रिय रही, उसकी कन्या उसे उस गर्त में नहीं गिरने देगी।

दक्ष : हे ऋत्विजो, चुप क्यों बैठे हो ? यज्ञ आरंभ करो।

सती : दक्ष, यह अविचार छोड़ दे। इससे कभी तेरा कल्याण नहीं होगा। अपनी ही बेटी की परवा न करनेवाला तू—तुझे जगत पर क्या दया आयगी ? जगत को अमरत्व प्राप्त करा देने के इस ढोंग की आड़ में, तेरे कायर मन को मृत्यु का जो भय लग रहा है, वह स्पष्ट दिखाई देता है। महादेव से तू डरता है न ? फिर उसके लिए यह यज्ञ क्यों ? उनकी शरण जा—फिर तुझे मृत्यु का कोई भय न लगेगा।

दक्ष : अब मृत्यु का भय तेरे महादेव को ही है।

सती : महादेव को मृत्यु का भय ! पागल दक्ष, महादेव को मृत्यु का भय दिखाने की सामर्थ्य किसमें है ? यह महादेव की शक्ति यहां जगमगा रही है। क्या वह शक्तिहीन हैं ? इस शक्ति का नाश करने पर ही तुझे महादेव दीखे और महादेव के दर्शन के बाद कौन किसे मृत्यु का भय दिखाता है, यह आप-ही-आप दीख जायगा।

दक्ष : महादेव ! महादेव ! बस कर ! उस बैताल की स्तुति काफी सुन चुका। इस जगत में दक्षप्रजापति के अतिरिक्त न कोई देव है, और न कोई महादेव है। ऋत्विजो, आहुति आरंभ करो।

सती : खबरदार यज्ञ-पात्र को हाथ लगाया तो ! इस यज्ञ-वेदी के सामने मैं इसी तरह खड़ी रहूंगी और अन्न-जल वर्जित करके यज्ञ में विघ्न डालूंगी। पर यही क्यों ? इस पापी प्रजापति की अमंगल जिह्वा द्वारा उच्चारित पति-निंदा जिस देह ने सुनी, वह देह ही मैं क्यों रखूं ? जब कोई मुझे दाक्षायणी कहकर पुकारेगा, तब उस नाम से लज्जित होकर, मुझे गर्दन झुका देनी पड़ेगी। इस शिव-निंदक की कन्या के नाते जीवित रहने की अपेक्षा इस देह को ही नष्ट कर देना क्या बुरा ? देख दक्ष, देख, यह शैवी शक्ति यज्ञ भंग करने के लिए इस पंचभूतात्मक देह का त्याग करके तेरे यज्ञ में विघ्न कर रही है। देखो—हे ऋत्विजो, देखो। शव-स्पर्श से अपवित्र हुई यज्ञभूमि को फिर तुम किन मंत्रों से आहुति दोगे ?

कश्यप : आत्महत्या महापाप है !

सती : यह आत्महत्या नहीं। इस दक्ष से मैं जब कोई संबंध नहीं रखना चाहती। मेरे पति की निंदा करने वाला—मेरे पति को अवमानित करनेवाला—मेरे पति के निरवच्छिन्न अधिकार को नष्ट करने के लिए यज्ञ करनेवाला, यह दक्ष कहलानेवाला अदक्षप्रजापति मेरी इस देह का जनक है, यह कहते मुझे मरणांतक यातनाएं होंगी। इन अमंगल स्मृतियों की यातनाओं के

कारण क्षण-प्रतिक्षण मेरे हृदय के टुकड़े-टुकड़े होंगे और ऐसी स्थिति में महादेव की पत्नी के नाते शान दिखाने में मुझे बहुत लज्जा आयेगी। कैलास के निर्मल वातावरण में संचार करनेवाली यह देह भी निर्मल होनी चाहिए। ऐसी अमंगल देह के संपर्क से महादेव के निर्मल सहवास को भ्रष्ट करने की अपेक्षा इस देह को अग्नि के हवाले कर देना क्या बुरा ? हे सारे ऋषि, मुनि, देव, गंधर्व, यक्ष-किन्नर; देखो, इस सती का आक्रोश देखो। देखो, महादेव की अमोघ शक्ति से बलवान हुई सती की यह जीवन-ज्योति—अपनी पंचभूतात्मक देह इस यज्ञ-कुंड के हवाले करके नई देह धारण करने के लिए हिमालय जा रही है। दक्ष, तेरा यज्ञ कैसे सफल होता है, यह अब तू ही देख। तुझे अपनी सामर्थ्य का यदि कुछ अभिमान हो तो उसे दिखाने का यही समय है। जिस शक्ति के जन्म के साथ तू प्रजापति बना, वह शक्ति, देख, यह चली। जय शंकर, जय शंकर—हरहर महादेव ! (यज्ञ-कुंड में कूद पड़ती है। परदे में हर हर महादेव।)

दक्ष : यह क्या ! मेरे अन्तःपुर से महादेव की जय की आवाज़ कैसे आ रही है ?

कश्यप : दक्ष, तुम्हारा और मेरा संबंध अब समाप्त हो गया। जिस शक्ति के कारण मैं तुमसे संबंधित था, वह शक्ति अभी-अभी ही तुमसे संबंध तोड़कर तुम्हारे ही यज्ञ में भस्म हो गई। हे ऋत्विजो, अब क्या यज्ञ कर रहे हो ? यज्ञ-दीक्षा लेकर अपनी ही कन्या की आहुति लेनेवाले इस राक्षस को क्या तुम आशीर्वाद दोगे ? उठो-उठो। भागो जल्दी। भीतर छिपे बैठे शंकर के गणों को मैंने अभी-अभी ही यहां से जाते देखा है। यदि वे कहीं शंकर को ले आए तो...

ऋत्विज : भागो-भागो-दौड़ो—(ऋत्विज भाग जाते हैं।)

दक्ष : पीछे लौटो। कायरो, पीछे लौटो ! यदि भूतों से डरते हो तो तुम्हारे वेद-मंत्र किस काम के ? क्या केवल यज्ञ की आहुति तक ही तुम्हें वेद मंत्र याद आते हैं ? पीछे लौटो। यदि वेद-

मंत्रों के बल से तुम्हारा भय न जाता हो तो इस दक्षप्रजापति के बाहुबल पर विश्वास रखकर पीछे लौटो। वेद-मंत्र धोखा दे सकते हैं, परंतु दक्षप्रजापति कभी विश्वासघात नहीं करेगा। अरे, यह क्या ?—क्या सब भाग गए !

कश्यप : दक्ष, मंत्रों के उच्चार से भाग जानेवाला भूत यह नहीं। इसका आवाहन करने के लिए ही मंत्रोच्चार करना पड़ता है। यह महद्‌भूत है। इस महद्‌भूत के विसर्जन के लिए तुम कितने भी प्रयत्न करो, वे कभी सफल नहीं होंगे। जितना यज्ञ हो चुका, उतना पर्याप्त है। अब पूर्णाहुति के लिए न रुककर, यज्ञ का विसर्जन करो। इसीमें तुम्हारा कल्याण है।

दक्ष : रे कायर, तेरे विश्वास पर रहकर, मैं अब यज्ञ-समाप्ति की प्रतीक्षा नहीं करूंगा। यह प्रतापशाली दक्ष अपने प्राण बचाने के लिए भी दूसरे के बल पर निर्भर नहीं रहेगा। सती ने यज्ञ में प्राण दे दिए, इसलिए कायरो, क्या यज्ञ में विघ्न उपस्थित हो गया? पहले ही तुम्हें यह क्यों नहीं सूझा ? जा—जा कश्यप, तू भी चला जा। मुझे तेरी सहायता की ज़रा भी परवा नहीं। जा, यज्ञकुंड में जलकर राख होने के लिए दौड़कर आनेवाले उस कैलास के गिद्ध की आरती उतारने को हाथ में चूड़ियां पहनकर, तैयार हो जा। जा।

कश्यप : दक्ष, तू अकारण ही ब्राह्मण का अपमान कर रहा है। पर याद रख, यह तेरे भावी नाश की पूर्व-सूचना है। मैं तो जा ही रहा हूं। मेरा और तेरा सेवक और स्वामी का संबंध तो आज इसी क्षण टूट ही चुका है। पर तुझसे पुनः कहता हूं कि शंकर से वैर करना छोड़ दे। वह आयें तो उनसे क्षमा मांग। महादेव दयालु हैं। वह तुझे क्षमा कर देंगे।

दक्ष : जा रे दर्भ वाहक, तेरे बल पर मैं नहीं बढ़ा हूं और न तेरी सलाह से मुझे चलना है। दूसरे की कृपा से जीवित रहने की अपेक्षा यह दक्षप्रजापति इस क्षण भी आनंद से मरने को तैयार है। जा—जा, मेरी दृष्टि के सामने से हट जा।

कश्यप : डूबनेवाले को बचाना नहीं चाहिए, यही सच है। दक्ष, आनंद से अपनी इच्छानुसार काम कर, आनंद से वेद-मंत्र कह, आनंद से ब्राह्मणों की निंदा कर और आनंद से यज्ञ समाप्त कर। पर यह ध्यान में रख कि तेरा यह आनंद—अपने बल का यह तेरा अहंकार, महादेव के सामने नहीं चलेगा। उनके आते ही जब तेरा सिर धड़ से अलग होने लगेगा, तब उस आनंद को बनाये रखने का प्रयत्न कर। (जाता है।)

दक्ष : जा—जा ! ऋषियो, मुनियो, देवो, गंधर्व और किन्नरो, तुम भी सब भाग जाओ। तुम्हारे सुख के लिए ही मैं यह यज्ञ कर रहा था, परंतु दुर्भाग्य से तुम्हीं चिरकाल तक जीना नहीं चाहते तो इसके लिए मैं क्या करूं ? जाओ, सारे मरकर, जलकर भस्म हो जाओ। तुम्हारे शरीर जलकर राख हो जायं, तो उसकी एक चुटकी-भर राख को मैं देखना नहीं चाहता। तुम्हारी हड्डियां जलकर कोयला बन जायं तो उन पर पैर रखने को भी दक्ष तैयार न होगा। तुम्हारे जीवन का अता-पता भी जल जाय, तब भी मुझे उसकी परवा नहीं। इस यज्ञ को मैं अकेला ही पूरा करूंगा। ऋत्विज भी मैं ही रहूंगा और यज्ञकर्ता भी मैं ही रहूंगा। यज्ञ का हविर्भाग लेने से यदि देव इन्कार करेंगे तो इस होम-कुंड में मैं ही उसकी आहुति दे दूंगा। सारे देवों को नाश करके मैं अकेला उनके अभाव की पूर्त्ति करूंगा। सबके हविर्भाग भी मैं ही लूंगा। किसीकी भी मुझे अब आवश्यकता नहीं। मैं ही जिऊंगा या मैं ही मरूंगा। मैं ! मैं मरूंगा ? अरेरे ! क्या, मैं मरूंगा ? सारे जगत को जीवित रखनेवाला मैं, क्या मर जाऊंगा ? मैं मरूंगा याने क्या होगा ? यह जग इसी तरह रहेगा। सूर्य और चन्द्रमा इसी प्रकार घूमते रहेंगे, पानी उसी तरह बरसता रहेगा। नदियां इसी तरह बहती रहेंगी, कोई जन्म लेगा, कोई बड़ा बनेगा, बोलेगा, हंसेगा, चलेगा, फुदकेगा और मैं अवश्य नहीं रहूंगा ! मैं मर जाऊंगा ! अरेरे ! मैं मर जाऊंगा ! नहीं,

मैं नहीं मरूंगा। प्रत्यक्ष कृतान्त भी यदि मेरे सामने आकर खड़ा हो जाय, फिर भी मैं अपने को मरने नहीं दूंगा। संहार करनेवाले इस निर्भय हृदय में मरण का यह कायर भय कहां से आ गया? अरेरे! यह हृदय क्यों धड़कने लगा? हे दक्ष की देह, तू इस तरह कांप मत। हे प्रजापति की ऐश्वर्यशालिनी जिह्वा मंत्रघोष कर। (मन्मथ आता है।)

मन्मथ : भागिये देव, भागिये। शंकर के भयंकर गणों ने नगर पर आक्रमण कर दिया। भागिये—अपने प्राण लेकर भागिये!

दक्ष : रे नपुंसक, तुझे भागना हो तो भाग जा और अपने क्षुद्र प्राण बचा। मेरे प्राणों का मूल्य मेरे अपमान की अपेक्षा अधिक नहीं। मेरा यज्ञ पूरा होना ही चाहिए। शंकर के गणों से जाकर कह दे कि वे नगर को जलाकर चाहे राख कर दें, फिर भी अपने यज्ञ को अधूरा छोड़कर मैं किसी की भी रक्षा के लिए नहीं दौड़ूंगा। अपने यज्ञ की अपेक्षा जगत के क्षुद्र जीवों की मुझे परवा नहीं। अपने यज्ञ का काम पूरा करने में मैं अब ब्रह्माजी से भी हार नहीं मानूंगा। शंकर के करोड़ों पिशाच्च आकर यज्ञ-भूमि को नष्ट-भ्रष्ट कर डालें, फिर भी पूर्णाहुति के लिए आगे बढ़ा हुआ मेरा यह हाथ टूट जाने पर भी पीछे नहीं हटेगा।

(मन्मथ पुनः प्रवेश करता है।)

मन्मथ : देव, भागिये—भागिये, सारे नगर में भयंकर प्रलय मचा है। असंख्य वेषधारी कुरूप पिशाचों ने सारे नगर में कोहराम मचा रखा है। शंकर का वीरभद्र नाम का एक गण इस पिशाच-सेना का संचालन कर रहा है। उसकी डरावनी ललकारों से सारा ब्रह्मांड गूंज उठा है। हर व्यक्ति को यह भय लग रहा है कि कहीं आकाश लड़खड़ाकर अपार समुद्र में तो नहीं डूब जायगा। सुनो देव, सुनो, यह बिजली की तरह कड़कने वाली घमासान की गड़गड़ाहट सुनो! देव, अब इस जल रहे जगत पर अपनी दया का जल बरसाकर, सबको सजीव करो।

दक्ष : पुरुष का रूप धारण करनेवाला कापुरुष, यहां से काला मुंह कर। मेरे हृदय में इस समय यज्ञ-मंत्र स्फुरित हो रहे हैं। ऐसे समय युद्ध की बातें क्यों करता है ? तेरे मुंह से युद्ध के ये वर्णन भी जनाने लगते हैं। जा, शंकर के गणों से कह दे कि वे अपने उस बैताल को ही यहां ले आवें। वह यदि आया तो उसे इस यज्ञ-कुंड में . . .

मन्मथ : देव, वह ही आ गए। देखिये वह आ गए। (स्वगत) मन्मथराज, अब तुम खिसको। (जाता है और यज्ञ-मंडप का एक भाग लड़खड़ाकर गिर पड़ता है। परदे में—"दे, दे, मेरी सती दे।")

दक्ष : वेदमंत्रो, दौड़ो-दौड़ो। मेरी रसना के अग्रभाग पर थिरक-थिरककर पूर्णाहुति की पूर्त्ति करो। क्या हो गया यह ! मंत्र क्यों याद नहीं आ रहे हैं ? दौड़ो वेदो, दौड़ो। ऐन समय पर इस दक्ष को धोखा मत दो। ऋत्विज भाग गए। पर मंत्रो, तुम क्यों भागते हो ? अरेरे, स्फूर्त्ति यदि शरीरधारी होती तो इस समय उस विश्वासघातनी का गला दबाकर उसके प्राण ले लेता ! वेद ! वेद ! हे मत्स्यकूर्मों के कुमार, तुम जाकर कहीं जल में तो नहीं छिप गए ? क्या करूं ? क्या यह मस्तक फोड़ लूं या इस हृदय को चीर डालूं ? मंत्रों, आओ—आओ—आओ, मेरी जिह्वा पर आओ। सभी भाग गए ! अब यह पूर्णाहुति कैसे दूं ? किन मंत्रों से ? कैलास के आगिया बैताल को खूब गालियां देकर क्या यही आहुति दूं ? अरेरे, गालियां यदि वेदमंत्र होतीं, तो इस समय मैं उसे लाखों गालियां देता ! पर अब . . .

(शंकर प्रवेश करते हैं।)

शंकर : पर अब तेरा यह काल तेरे यज्ञ में तेरी ही पूर्णाहुति देगा। प्रजापति कहलानेवाला नरपिशाच, मेरी सती कहां है ?

दक्ष : धोखा-धोखा! इन वेदमंत्रों ने ऐन समय पर मुझे धोखा दे दिया !

शंकर : नीति-भ्रष्ट, विवेकहीन, पाषाणहृदयी और अहंकारी की जिह्वा पर आकर वेदमंत्र क्यों भ्रष्ट होना चाहेंगे ? दक्ष, मेरी

सती कहां है ? (उसकी गर्दन पकड़ लेता है।)

दक्ष : तेरी सती ? तेरी सती मर गई। इस यज्ञ में मैंने उसकी आहुति दे दी।

शंकर : अपनी ही कन्या की बलि देनेवाला रे पापी, तू सती की आहुति देगा ? शंकर के वज्रहृदय की राख करके उसपर असंख्य विश्वों की समिधाएं रचे विना सती की आहुति पड़नेवाला यज्ञ-कुंड तैयार नहीं होगा। चांडाल, क्या तू सती की आहुति देगा ? मैंने तेरी गर्दन इस तरह दबा दी है और उसका प्रतिकार करने की रत्ती-भर भी शक्ति न रखनेवाला तू रणभीरु—तू सती की आहुति देगा ?

दक्ष : यज्ञ की पूर्णाहुति में तेरा संहार करने के लिए आगे बढ़ा हुआ यह हाथ यदि मैं पीछे हटा सकता, तो इस समय शंकर का नाम ही संसार से मिट जाता।

शंकर : तो फिर उठा वह हाथ और कर महादेव से युद्ध।

दक्ष : संहार का संहार करने के लिए आगे बढ़ा हुआ हाथ आत्म-रक्षा के लिए क्या पीछे खींच लूं ?—नहीं, इस दक्ष का यह बाना नहीं। चाहे यह मस्तक टूटकर गिर पड़े, पर यह हाथ पीछे नहीं हटेगा। शंकर का गला दबाकर उसके रक्त की अंजलि भरने के लिए भी यज्ञाहुति का यह हाथ मैं पीछे नहीं खींचूंगा।

शंकर : अरे मूर्ख, प्रत्यक्ष शंकर ही तेरे सामने खड़ा है, तब भी उसके नाश के लिए क्या तू आहुति देता रहेगा ?

दक्ष : मुझे शंकर का नाश नहीं करना है, शंकर की शक्ति का विनाश करना है।

शंकर : शंकर की शक्ति तुझसे उत्पन्न हुई मानवी देह का त्याग करके, असंख्य विश्वों के जगमगाते हुए परमाणुओं में विलीन हो गई। जिस जीवित ज्योति को प्रत्यक्ष यह महादेव भी न रोक सका, उसका नाश करने की दुर्बुद्धि रखनेवाले मतिमंद विद्वान, धिक्कार है तेरी विद्वत्ता को !

दक्ष : (दांत पीसकर) अरे, वेद-मंत्र कहां चले गए ? सब [illegible] मृत

वेदों को तिलांजलि ही दे देता हूं। (शंकर उसे पटककर उसकी छाती पर सवार हो जाते हैं।)

शंकर : वेदों को तिलांजलि देना चाह रहे इस अधम ब्राह्मण का यह हृदय इस त्रिशूल से . . .

प्रसूती : (दौड़कर त्रिशूल पकड़ लेती है।) सती की इस दुर्बल मां का मस्तक पहले उड़ा दीजिए। दक्षप्रजापति की मृत्यु से सती की मां के विधवा हो जाने पर, विधुर हुए शक्तिहीन महादेव को क्या संतोष हो जायगा ? प्रिय पत्नी के चल बसने के कारण उसकी प्रिय मां का सौभाग्य छीन लेने से क्या महादेव का विधुरत्व चला जायगा ? इसकी अपेक्षा तो प्रसूती को मारकर, सती का मायका ही नष्ट कर दीजिए।

शंकर : (दक्ष की गर्दन छोड़कर) सती का मायका ? जिस मायके के लिए सती ने मुझे छोड़ दिया, अटल प्रेम के अटूट बंधनों को तोड़कर जिसे देखने के लिए सती अपने प्रिय कैलास से नीचे कूद पड़ी, वही सती का मायका ! दक्ष, मेरी पत्नी ने मुझे विरहाग्नि में डाल दिया, परन्तु तेरी पत्नी ने इस यज्ञाग्नि में पड़नेवाले तेरे मस्तक को बचा लिया। देवी, प्रसूती, मेरी प्रतिज्ञा थी कि मैं इसका मस्तक काट डालूंगा। परंतु तुम्हारे लिए, तुम्हारे सौभाग्य का सिंदूर बनाये रखने के लिए मैं इस कन्याघातकी को मस्तिष्कहीन पागल करके छोड़ देता हूं। (दक्ष मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है।)

प्रसूती : देव, मेरे सौभाग्य के प्रकाश में तुम्हारे हृदय की स्वामिनी तुम्हें दीख पड़े, यही इस अभागिनी मां का तुम्हें आशीर्वाद है।

(यज्ञ-मंडप का शेष भाग भी लड़खड़ाकर गिर पड़ता है।)

पंचम अंक

दृश्य एक

(रति और मन्मथ)

रति : तो मतलब यह कि अब सब शान्त हो गया ?

मन्मथ : हां । ऐसा कह तो सकते हैं । दक्षप्रजापति के इधर-उधर भटकते रहने के कारण जहां-तहां अराजकता फैल गई थी । इसीलिए शंकर ने राजनीति पर वैशालाक्ष नाम का एक ग्रंथ लिखा और उसीके अनुसार प्रजा-पालन की व्यवस्था कर दी । पर प्रजापति का स्थान अभीतक रिक्त पड़ा है ।

रति : कश्यप कहते थे कि प्रजापति के होश के आने के बाद ही वह फिर अधिकारारूढ़ होंगे ।

मन्मथ : हां । ऐसा होगा तो । पर यह होने के लिए पहले शिव और पार्वती का विवाह हो जाना चाहिए ।

रति : पार्वती ! यह पार्वती कौन है ?

मन्मथ : दक्ष-यज्ञ में अपने शरीर की आहुति देने के बाद दिव्य देह धारण करके अब सती ही पार्वती के नाम से प्रसिद्ध हुई है । वह अपने को हिमालय की कन्या कहती है । पर वह कन्या किसी-की हो, इससे मुझे मतलब नहीं । जब पता चलता है कि कहीं कोई कन्या है, तब मुझे यह चिंता लग जाती है कि उसे पत्नी कैसे बनाऊं ? परंतु यह विवाह सच्चा विवाह नहीं कहा जा सकता । इसे बहुत हुआ तो पुनर्मिलन कह सकते हैं ।

रति : अच्छा, यह बात है ? तो कदाचित इसीलिए महाशयजी ने हिमालय पर आज यह पुनः आक्रमण किया है ?

मन्मथ : उस समय का आक्रमण भिन्न था और अब का यह आक्रमण बिल्कुल ही विचित्र है । उस समय शंकर के अज्ञान के कारण जो कार्य बड़ी सरलता से हो गया था, वह अब कितनी कठिनाई

से होगा, इसका स्वयं मैं भी कोई अनुमान नहीं लगा पा रहा हूं। यदि शृंगी-भृंगी से भेंट हो जाती, तो उनसे शंकर की वर्तमान मनःस्थिति का पता लग जाता और फिर उसी रुख से मैं अपना कार्य-क्रम बनाता।

रति : परंतु आगामी कार्यक्रम निश्चित करने के लिए हमें सती—नहीं, पार्वती से मिलना भी तो आवश्यक है।

मन्मथ : हां। पर उसका पता मुझे मायावती से मालूम हो गया है। मुझे इस समय चिंता यह हो रही है कि महादेव से भेंट कैसे हो?

रति : मैं सोचती हूं, इस समय हम शंकर के निवास-स्थान के आसपास ही कहीं खड़े हैं। हां, सच तो है—देखो, वे शृंगी और भृंगी इसी तरफ चले आ रहे हैं।

मन्मथ : अरे वाह! तब तो कहना होगा कि मेरे कार्य के लिए यह एक बड़ा शुभ सगुन है। (शृंगी और भृंगी आते हैं।) आइये-आइये, शृंगीराज, भृंगीराज, आइये। कहिये आपके महादेव का क्या समाचार है आजकल?

भृंगी : अरे वाह, कौन? मन्मथ और रति? क्योंजी मन्मथ, हमारी मां कहां है?

मन्मथ : अरे भई, यही पूछने तो हम आये हैं।

शृंगी : वाह, यह भी कोई बात हुई? हमारा ही प्रश्न हम पर फेंक देना हमारे प्रश्न का उत्तर नहीं हो जाता। समझे?

भृंगी : अच्छा वह प्रश्न छोड़ो अभी। पर मन्मथ, यह कैसे हुआ? हमारे देव की अर्द्धांगिनी तो यज्ञ-कुण्ड में कूद पड़ी, पर तुम्हारी यह अर्द्धांगिनी अभीतक जीवित कैसे रही?

मन्मथ : क्योंकि वह यज्ञ-कुण्ड में नहीं कूदी इसलिए।

शृंगी : पर वह क्यों नहीं कूदी?

मन्मथ : वह कूदना नहीं चाहती थी। यदि सती ने कोई नासमझी कर दी, तो इसका मतलब यह नहीं कि रति को भी वही करना चाहिए।

शृंगी : वाह, वाह! यह भी कोई विचार हुआ? जब हमारे देव की

अर्धांगिनी यज्ञ-कुंड में कूद पड़ी, तो संसार की सब अर्धांगिनियों को भी यज्ञ-कुंड में क्यों न कूद पड़ना चाहिए? हमारे देव अपनी अर्धांगिनी की याद में दुखी हों, और तुम अपनी अर्धांगिनी साथ लिये मजे में घूमते रहो, यह हमें कभी अच्छा न लगेगा। (शृंगी और भृंगी रति को पकड़कर घसीटने लगते हैं।)

रति : ओ मां! क्या ये पिशाच अब मेरे प्राण ही ले लेंगे? चलो, चलो। छोड़ो अपने सब विचार। चलो, पहले यहां से हम भागें।

शृंगी : पर हम भागने दें तब न? हम कुछ नहीं सुनना चाहते। मन्मथ, हम अभी एक कुण्ड जलाते हैं और उसमें तुम्हारी इस रति को कूदना ही होगा।

रति : अरे मूर्ख, तेरे देव की अर्धांगिनी तो अपने प्राणों से ऊब उठी थी। पर मैं अपने प्राणों से नहीं ऊबी हूं।

भृंगी : ऐसी धोखेबाजी हमारे यहां नहीं चलेगी। तुम्हारी गप्पों में हम कभी नहीं आयेंगे। तुम्हें मरना ही होगा। दक्ष के यज्ञ को हमने किस प्रकार नष्ट-भ्रष्ट कर डाला था, यह तो तुमने देखा था न? या भूल गई इतनी जल्दी?

मन्मथ : अरे पागलो, यह क्या करते हो? तुम्हारे देव की अर्धांगिनी अपनी इच्छा से अग्नि में कूदी थी, यह तो तुमने देखा था न?

शृंगी : अच्छा माना, कि हमारे देव की अर्धांगिनी अपनी इच्छा से आग में कूदी थी। तो क्या इसे अपनी अनिच्छा से भी अग्नि में कूद-कर प्राण नहीं दे देना चाहिए? ना भई, यह न्याय तो अपने-राम की समझ में नहीं आता। मैं कुछ नहीं सुनना चाहता। इसे आग में कूदकर प्राण देने ही होंगे। हमारे कैलास पर जो प्राणी आता है, वह यदि हमारे देव से अधिक सुखी हुआ, तो यह हमसे नहीं सहा जाता।

रति : अरे शृंगी, यूं क्रोधित मत हो। हमने तुम्हारे देव को जिस तरह पहले एक अर्धांगिनी ला दी थी, उसी तरह यदि तुम चाहो तो तुम्हारे लिए भी एक अर्धांगिनी ला देंगे।

शृंगी : अर्धांगिनी लेकर मैं क्या करूंगा ? अर्धांगिनी किस काम के लिए होती है, यही मैं नहीं जानता ।

मन्मथ : जब एक अर्धांगिनी तुम्हें मिल जायगी, तब तुम सबकुछ आप-ही आप जान जाओगे ।

भृंगी : नहीं रे भई, व्यर्थ ही पुनः एकाध यज्ञ करना पड़े शायद ।

मन्मथ : अच्छा तो छोड़ो । तुम नहीं चाहते, तो न सही । पर तुम्हारे देव को यदि हम पुनः एक अर्धांगिनी ला दें तो ?

शृंगी : पुनः ? याने एक अर्धांगिनी के समाप्त होने के बाद क्या पुनः दूसरी अर्धांगिनी भी प्राप्त की जा सकती है ? प्रत्येक को एक--के बाद एक ऐसी कितनी अर्धांगिनियां प्राप्त हो सकती हैं ?

मन्मथ : चाहे जितनी, या जितनी मिलें उतनी ।

भृंगी : अच्छा, यह बात है ? पर मन्मथ यह तो बताओ कि देव की यह नई अर्धांगिनी हमारी मां होकर रहेगी या हमारी कन्या होगी ? मगर कन्या याने क्या, यह मैं अभीतक नहीं समझ पाया हूं ।

शृंगी : यह मैं बताता हूं । जो पति से लड़कर पिता के घर जाती है और वहां पिता से लड़कर पति को रुलाने के लिए अग्नि में कूद पड़ती है, वह कन्या है । जैसे हमारी सती दक्ष की कन्या थी । पर मन्मथ, जो हुआ सो ठीक ही हुआ । हमारी मां के मर जाने से हमें कष्ट होते हैं यह सच है । पर कम-से-कम हमारे महादेव अब पुनः पहले जैसे समाधि-मग्न होने लगे, यह क्या कुछ कम लाभ हुआ ?

भृंगी : मूर्ख हो तुम । आजकल देव क्या आनंद में समाधिमग्न होते हैं । क्या तुमने देखा नहीं, मां का नाम ले-लेकर कैसे दीर्घ निश्वास छोड़ते रहते हैं ।

शृंगी : और मैं क्या कम रोता हूं ? मन्मथ, तुम्हें क्या एकाध और दक्ष-प्रजापति नहीं मिलेगा ? देखो भई, प्रयत्न करो और खोज लाओ एकाध कन्या कहीं से । क्या करूं जी, यदि मैं कहीं से अर्धांगिनी प्राप्त कर लेता, तो मुझे भी एकाध कन्या मिल जाती ।

और फिर उस कन्या को मैं देव की अर्धांगिनी बना देता। पर मैं प्रजापति कहाँ हूं ? मैं सोचता हूं कि केवल प्रजापतियों के ही कन्याएं हुआ करती हैं।

रति : पहले यह वचन दो कि तुम मुझे अग्नि में नहीं जलाओगे, तो हम भरसक प्रयत्न करके तुम्हारे देव के लिए एक अर्धांगिनी खोज लाते हैं। (मन्मथ से एक ओर) हम जो चाहते थे, यह खबर हमें मिल गई। अब यहां से सटक चलें, यही अच्छा। नहीं तो ये पिशाच सचमुच ही मुझे आग में जला देंगे।

भृंगी : अच्छा हम वचन देते हैं—हमने खूब सोच लिया। हमें तुम्हारी बात स्वीकार है। हम तुम दोनों को ही छोड़ देते हैं। पर आज ही हमारे देव को एक अर्धांगिनी ला दो। पर हां, वह हमारी या हमारे देव की कन्या नहीं होनी चाहिए। हमें आवश्यकता है मां की और देव को आवश्यकता है अर्धांगिनी की, यह ठीक से ध्यान में रखना। समझे ?

मन्मथ : तुम्हारी सब शर्तें हमें स्वीकार हैं। हां, पर एक काम तुम्हें भी करना होगा। हम उस नजदीक के पहाड़ पर ठहरे हैं। जब तुम्हारे देव समाधिमग्न हों, उस समय वहां आकर हमें खबर दे देना। तुम्हारे यह करने पर सब बातें तुम्हारी इच्छानुसार हो जायंगी। (रति और मन्मथ जाते हैं।)

भृंगी : इसमें संदेह नहीं भृंगी कि यह मन्मथ बड़ा विलक्षण प्राणी है चाहे जिसे चाहे जो बना देता है। कन्या को मां बना देता है, मां को पुनः कन्या बना देता है और फिर मां है सो है ही। इतना ही क्यों, उस यज्ञ के दिन उसने हमें मन्मथ ही बना दिया था कि नहीं ? पर उसने एक झुठाई कर दी थी। अपनी सारी पोशाक तो हमें दे दी। पर उसने अपनी रति हमें नहीं दी।

भृंगी : अरे सच ! हम उससे पोशाक मांगने को बिल्कुल भूल ही गए।

भृंगी : अभी वह फिर आयेगा ही। उस समय उसकी पूरी पोशाक के साथ मैं उससे उसकी रति भी मांग लूंगा। रति के बिना पोशाक

की क्या शोभा ? यद्यपि अर्धांगिनी मैं नहीं चाहता, फिर भी पोशाक के साथ यदि मुझे रति मिल जाय, तो कोई हर्ज नहीं। सिर्फ पोशाकी रति। पोशाक की तरह मैं उसे भी पुनः मन्मथ को लौटा दूंगा। उस बेचारे को मैं क्यों लूटूं ?

भृंगी : अब यहीं बेठै-बैठे बातें करते रहने से काम कैसे चलेगा ? देव के समाधिमग्न होते ही हमें जाकर मन्मथ को खबर जो देनी है। अरे, पर यह कौन है ? देखो-देखो, कैसी विचित्रता है यह। (दक्ष शरीर पर फटे कपड़े और सिर पर पत्तों का मुकुट पहने हुए प्रवेश करता है।)

दक्ष : कौन है रे उधर ? मन्मथ कश्यप से कह दे कि आज यज्ञ की पूर्त्ति होनी ही चहिए। क्यों, उत्तर क्यों नहीं देता ? क्या तू भी उस पिशाच के दल में सम्मिलित हो गया ?

भृंगी : अरे-रे ! यह तो दक्ष है। इसकी यह कैसी दशा हो गई है ?

दक्ष : हां, तुम ठीक कहते हो। मैं दक्षप्रजापति हूं। यह मेरा मुकुट देखो। कम-से-कम अब तो तुम्हें विश्वास हुआ कि मैं दक्ष-प्रजापति हूं। अरे, यह सारा संसार पागल कैसे हो गया ? अरे मूर्खों, तुम अनन्त काल तक जीवित रहना चाहते हो न ? फिर देख क्या रहे हो ? आओ-आओ इस दक्ष की छाती पर होम कुण्ड जलाओ और उसमें अपने-अपने मस्तक की आहुति दो।

भृंगी : क्यों जी दक्षप्रजापति महाराज, क्या तुम्हारे एकाध कन्या है ?

दक्ष : कन्या ? थी—मेरे एक कन्या थी। परंतु वह मैंने एक पहाड़ी गिद्ध को अर्पित कर दी। उस गिद्ध ने उसका मांस लार टपका-टपका कर खाया और उसकी हड्डियों का कंकाल लाकर मेरे मुकुट पर रख दिया। मेरे मुकुट पर सदा बड़े अनमोल हीरे और रत्न जड़े रहते थे। हड्डियों का कंकाल कभी उसपर नहीं रखा था। सुनो, यह कड़कड़ाहट सुनो। क्या कहा ? यह यज्ञ-मण्डप के लड़खड़ाकर गिरने पड़ने की आवाज है। नहीं, बिल्कुल नहीं। तो क्या मैं उस कंकाल की हड्डियां चबा रहा

हूं। नहीं, बिल्कुल नहीं। यज्ञ दीक्षा लेने के बाद कड़कड़ आवाज करने के लिए भी मैं अपनी कन्या के कंकाल की हड्डियां नहीं तोड़ूंगा। हड्डियों के स्पर्श से क्या मैं धर्म-भ्रष्ट नहीं हो जाऊंगा?

शृंगी : (स्वगत) अरे यह क्या बक रहा है? (प्रकट) अजी दक्ष-प्रजापति जी, तुम्हारी सती नाम की एक कन्या थी न?

दक्ष : सती नाम की मेरी कन्या थी। अरे-रे, पितृ-प्रेम को मैंने हड्डियों का कंकाल बना दिया। हृदय के हिमालय के तले मैंने उस कंकाल को कुचल डाला। अपने हृदय के हृदय में मैंने चुपचाप उसकी हत्या कर दी। क्या फिर भी तुम्हें उसका पता चल गया? अरे धूर्तों, क्या मेरा राज्य लेना चाहते हो? ले लो। राज्य का मुझे कोई मूल्य नहीं। सती की अपेक्षा मुझे राज्य बड़ा नहीं लगता। अच्छा? तो अब तुम यह पूछ रहे हो कि फिर मैंने उसकी अवमानना क्यों की? (जोर से हँसकर) वह तो एक परिहास था। समझे? मैंने प्यार से उसका परिहास किया। और उसने भी पितृ-प्रेम के आवेश में परिहास से—केवल परिहास से—आत्म-हत्या कर ली। वह जल गई, वह भी परिहास से। जहां-तहां परिहास का बाजार गर्म है। प्रजापति के सिंहासन पर परिहास का बिजूका बिठा दिया है और उसके सिर पर परिहास का ही मुकुट पहना दिया है। उस मुकुट के ढक्कन के तले परिहास का मस्तक ढांक कर रख दिया है। यही विश्व अच्छा है। इस विश्व का मैं स्वामी हूं, सुना। इस विश्व का मैं स्वामी हूं। यह भी परिहास ही है। (हँसता है और सिर का मुकुट उतारकर उसकी ओर देखता हुआ बुदबुदाता है।)

भृंगी : और हम यहां खड़े हैं, यह भी परिहास ही है?

शृंगी : अरे चुप रहो। यह पागल हो गया है शायद। चलो, हम इसे देव के पास ले चलें। अरे-रे, कितनी बुरी दशा है बेचारे की। हमारी मां का नाश यद्यपि इसीके कारण हुआ है, फिर भी इसपर मुझे दया आती है। चलो भृंगी, इसे हम देव के पास

ले चलें और पुनः इसे पहले जैसा ही कर देने की देव से प्रार्थना करें ।

दक्ष : सती, मेरी प्यारी बेटी—क्या मुझसे रूठ गई हो ? हां, पगली, बाप के हृदय में कहीं प्यार भी होता है ? बेटी, मेरा वात्सल्य यदि मेरे पैरों में होता, तो मैं तुझे लात मार देता । अरे-रे, यह सती नहीं, यह मेरा मुकुट है । हे प्रतापशाली परिहास, बैठ जा मेरे मस्तक पर और उसके भीतर के सड़े हुए मस्तिष्क से निकलनेवाले कुत्सित विचारों पर ढक्कन रख दे । (भृंगी को पास खींचने लगता है, वह गर्दन फेर लेता है ।) अरी पगली लड़की, मुंह क्यों फेर रही है ? मेरा मस्तिष्क मेरे हृदय में है; यदि वह मस्तक होता तो उसकी दुर्गंध क्या मेरी स.स के साथ बाहर नहीं निकलती ?

भृंगी : अजी प्रजापतिजी, मैं तुम्हारी सती नहीं । मैं भृंगी हूं । यह देखो मेरी दाढ़ी । मन्मथ कहता है कि कन्या को दाढ़ी नहीं होती ।

दक्ष : अरे धूर्त, तू झूठ बोल रहा है । तू कन्या ही है । यह दाढ़ी तुझे यों ही नहीं आ गई है । भरे दरबार में मुझे अपमानित करने का साहस जिस समय तू हिमालय से चुराकर लाई, उस समय तुझे यह दाढ़ी निकल आई । अरी ओ हिमालय पर रहने-वाली परिहास की देवी, तेरी यह दाढ़ी पकड़कर मैं यों उखाड़ दूंगा । (भृंगी जोर से चीख उठता है ।) स्त्रियां आजकल कोमलता पसन्द नहीं करतीं । इसीलिए तुम्हें दाढ़ियां आने लगी हैं । पर मैं प्रजापति हूं । मैं जगत का नियन्ता हूं । तुम्हारी दाढ़ियों को उखाड़कर यज्ञ में उनकी आहुतियां देकर संसार के समस्त जीवों को मैं अमर कर दूंगा ।

भृंगी : भृंगी, तुम अपनी दया अपने पास रखे रहो । मैं तो इसके अब प्राण ही लेकर छोड़ूंगा । ओ म.....।

भृंगी : देव क्या कहते हैं , यह तो तुम जानते हो न ? संकट में यदि शत्रु भी है, तो उस पर दया करनी चाहिए । ... ..

दक्ष : दया करनी चाहिए, हां, दया करनी चाहिए। परंतु वह शत्रु यदि मेरा दामाद होगा, तभी मैं उसपर दया करूंगा । सारे जगत को अमर कर देने के बाद मैं अपने दामाद का अपनी कन्या से विवाह कर दूंगा और फिर उनकी सन्तान मृत्यु के यज्ञ की भस्म सारे जगतीतल पर बिखेर देगी । उस भस्म के प्रत्येक कण से असंख्य जगत निर्मित होंगे और उस भस्म की धधकती हुई ज्वाला के कारण जगत में शान्ति का साम्राज्य छा जायगा और उस साम्राज्य का सम्राट होकर मैं सारे जगत को नष्ट-भ्रष्ट कर दूंगा । (भृंगी को हृदय से लगाकर) समझी, मेरी प्यारी कन्या ? यह सारी उठा-पटक तेरे कल्याण के लिए ही है।

भृंगी : ठीक है मेरे प्यारे पिता, पर अब हमारे महादेव के पास चल रहे हो न ?

दक्ष : अवश्य । तुम क्या सोचती हो ? क्या तुम सोचती हो कि मैं शंकर से डरता हूं ? शंकर से मैं बिल्कुल नहीं डरता । अकड़ से गर्दन झुकाकर मैं शंकर के सामने खड़ा रहूंगा और किसीकी भी परवा न कर, उसके चरणों पर लोट जाऊंगा । समझी बेटी, क्या तू समझती है कि मैं पागल हो गया हूं ? यह देख मेरा मस्तक (भृंगी के सिर को हाथ लगाकर) मैंने अपनी कांख में दबा लिया है । दो अंगुलियों की कैंची में पकड़कर मैं इसका कचूमर निकाल दूंगा, समझी ? क्या मैं शंकर से डरता हूं । बता कहां है वह तेरा शंकर ? उसके सामने आते ही यदि मैं उसके चरण न पकड़ लूं, तो मेरा नाम दक्षप्रजापति नहीं । (भाग जाता है । भृंगी भृंगी भी चल देते हैं ।)

दृश्य दो

(दौड़ती हुई पार्वती प्रवेश करती है ।)

पार्वती : ठहरो देव, ठहरो । क्या इसलिए रूठ कर जा रहे हो कि मैंने आपकी अवज्ञा की ? क्या आपका वह क्रोध अभी तक शान्त

नहीं हुआ ? देव, उस समय मैं मानवी थी, अब मैं मानवी नहीं। उस समय मैं दाक्षायणी थी—मनोविकारों के वशीभूत हो जाने-वाली मनुष्य-कन्या थी। अब मैं पार्वती हूं—पर्वत की कन्या हूं। पत्थर से उत्पन्न होने के कारण क्या मेरा हृदय भी अब पत्थर जैसा ही नहीं हो गया होगा ? डरिये नहीं, देव ! अब मेरा मन नहीं डगमगायगा। मैं पर्वत की तरह अचल हो गई हूं। पिता के थोथे अभिमान का मेरे मन पर अब कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। यह क्या ? आप हँसते क्यों हैं ? क्या आपको मुझपर इसलिए विश्वास नहीं होता कि मुझे पर्वत पर, अपने पिता पर अभिमान है ? आपको विश्वास दिलाने के लिए अब मैं और कौन-सी अग्नि परीक्षा दूं ? जिस तरह आग में तप कर निकला हुआ सुवर्ण निर्मल सिद्ध होता है, उसी तरह यज्ञ-कुण्ड में अपने-आपको जला देने के बाद भी क्या मैं आपकी कसौटी पर खरी नहीं उतरी ? क्या आप इसलिए चौंक पड़े कि मेरा रूप वही है ? परंतु देव, प्रथम-मिलन के समय यही रूप आपको अधिक सुन्दर लगा था। देव, उस समय जब आप मेरे सौन्दर्य का आवश्यकता से अधिक वर्णन करने लगते, तब लज्जा से मैं लाल हो उठती। उस समय मानसरोवर के लाल कमल की उपमा देकर मेरे मुख को आप मुख-कमल कहा करते। उस प्रशंसा से घबड़ाकर मुझे पसीना आ जाता। तब उसे लक्ष्य करके आप ही नहीं कहते थे कि कमलपत्र पर ओस की बूंदें इसी प्रकार चमकती हैं ? फिर उस रूप के प्रति मुझे अभिमान क्यों नहीं होना चाहिए ? लज्जा से मुरझाकर जब आपके वक्ष पर मैंने मुंह छिपाया, तब आपके गले के सर्प ने फन उठाकर, फूत्कार किया था। उस समय क्या आप ही ने यह नहीं कहा था कि कमलिनी के पत्ते पर नाग इसी तरह झूम उठता है। मैं भला नाग से क्यों डरती ? समुद्र-मंथन के समय शेषनाग की सहस्र जिह्वाओं से निकला हुआ कालकूट जिस कंठ में ठंडा हुआ, उस कंठ को मैंने बाहों

में भर लिया था। फिर विषैले फूत्कारों से मैं भला क्यों डरती ? कालकूट से नीले पड़े हुए आप के कंठ का मैंने अनेक बार चुम्बन लिया था। मैं यदि विष से डर जाती, तो दक्ष के भयंकर क्रोध का सामना कैसे कर सकती थी ? देव, मैंने आपका अपमान किया। परंतु यह देखते ही कि पिताजी आपका अपमान कर रहे हैं, मैं स्वस्थ नहीं बैठी रही। क्या वह हाल आपसे किसीने कहा ही नहीं ? या सब कुछ जानते हुए भी आप मुझपर अभीतक रूठे हैं ? यह सच है कि आप क्रोधी हैं, पर मैंने आपको सदा अनुरागी ही पाया। इस अनुराग के कारण ही तो अपने चरणों की इस दासी को आपने हृदय से लगाया था। अब आपका वह अनुराग कहां गया ? आप दक्ष पर क्रोधित हुए तो क्या उस क्रोध के साथ अपने अनुराग पर भी आपको क्रोध आ गया ? शंकर, आपको जग के कल्याण की चिंता है। फिर केवल मैं अकेली ही आपको जग से भिन्न क्यों लगती हूं ? महादेव, दक्ष से मैंने अपना संपूर्ण नाता तोड़ दिया और अब जगत से अत्यन्त निकट का नाता जोड़ा है। सिर्फ इसीलिए तो मैं अब पर्वत की कन्या हुई हूं। यह कहकर मुझे धिक्कारने का अब कोई अवसर ही नहीं रहा कि मैं किसी ऐश्वर्यशाली की कन्या हूं। चूंकि हिमालय आपके चरणों के तले रहता है, इसीलिए मैं हिमालय की कन्या हुई। क्या अब भी आप मुझे अस्वीकार कर देंगे ? पैरों तले की धूल में पैदा हुई चम्पा की कली को क्या आप पैरों तले कुचल देंगे ? देव, आपके शरीर से स्पर्श करनेवाली हवा मेरे शरीर से लगकर मुझे आपके आलिंगन का सुख देती है। इसीलिए मैं अब इस हिमालय की एक भिलनी बन गई हूं। जब मुझे पता चला कि मेरे भोले-भाले शंभू को भोले-भाले लोग अच्छे लगते हैं, तब मैं भिलनी बन गई। हाथ में चमकता हुआ त्रिशूल लेकर, सफेद बर्फ पर संचार करनेवाले गौरांग भील को यह भिलनी—यह गौरी क्या अनुरूप नहीं होगी ? मैंने दो-तीन बार आपके

सामने आने का प्रयत्न किया। पर आपको सदा आंखें बन्द किये ही पाया । आपकी आंखें खोलने के लिए अब आखिर अंजन भी कौन-सा लगाऊं ? प्रेम का गुलाबी अंजन मैं आपकी आंखों में लगा भी देती, पर देव, मैं आपसे डरती हूं । पहले वचन दीजिये कि पिछली बातें फिर नहीं निकालोगे, तभी मैं आपके पास आऊंगी। मैं शिकार खेलनेवाली भिलनी हूं । यह याद रखिए देव ! भागते हुए हरिण पर बाण छोड़कर उसे घायल कर देना मैंने सीखा है। आप जरा संभलना। यदि मेरा नयनबाण आपको कहीं लग गया, तो आपके पंचप्राण मेरे हाथ में आ जायंगे---परंतु आप शिकार के लिए बिल्कुल अपात्र हैं। आंखें बंदकर सोये हुए जानवर का शिकार करना क्या अधर्म नहीं होगा ? प्यारे, यह आंख-मिचौनी अब छोड़िये। क्या 'आनंद आनंद' कहूं अब । पर नहीं मेरे मुंह से आप जब 'आनंद' शब्द सुनते हैं, तो आपकी खुली आंखें भी बंद हो जाती हैं। फिर अब आखिर करूं क्या ? क्या दौड़कर आपके गले में एकदम बाहें डाल दूं। सर्प का आलिंगन आपको अच्छा लगता है न ! यह देखो देव, यह देखो सर्प । यह देखो उसका फन ! अब तो हुआ न ! क्या यह हाथ अब डाल दूं गले में ? या फूलों की माला पहना दूं ? नहीं प्यारे, फूल अच्छे नहीं। उनका सुवास बड़ा उग्र होता है। इससे तो मैं आपके गोरे गाल पर लगी भस्म ही सूंघती रहूंगी। भिलनी को गंध की अच्छी परीक्षा होती है। केवल गंध से ही हम अपना शिकार खोज लेती हैं। (सूंघकर) मिल गया---मुझे अपना शिकार मिल गया---जब मैं आपको इस तरह भुजाओं में कसकर भर लूंगी और जबतक आप यह वचन न देंगे कि फिर आप मुझसे कभी नहीं रूठेंगे, स्वयं मैं ही अपनी आंखें बंद किये रहूंगी। (शिला का आलिंगन करती है। मन्मथ प्रवेश करता है।)

मन्मथ : यह क्या चमत्कार है ? यह पार्वती शिला को ही बाहों में भरे बैठी है ! मैंने अपने बाण इसपर गलत समय पर फेंक दिए, यही

बड़ी भूल हो गई। इस गोल चिकनी शिला को ही यह शंकर समझने लगी। अब क्या करूं ? कहा है कि पहले बुद्धि जाती है और फिर जाते हैं, पंचबाण, यही सच प्रतीत होता है।

पार्वती : (आंखें न खोलकर) अब कबतक आप मौन रहेंगे ? जबतक आप मुझे पार्वती कहकर नहीं पुकारेंगे मैं आंखें नहीं खोलूंगी।

मन्मथ : पार्वती यह क्या पागलपन है ? अरी, वह शिला है। ज़रा आंखें खोलकर देख।

पार्वती : मैं यों धोखा नहीं खाऊंगी। समझे ! मैं शिला की कन्या हूं। मैं शिला का ही आलिंगन करूंगी। सचमुच आप बिल्कुल शिला जैसे ही हैं। इसीलिए तो मैंने आपको वरमाला पहनाई। पर्वत की कन्या को—मुझे शिला को—इसी तरह का पत्थर-पति शोभा देता है।

मन्मथ : पार्वती, मैं मन्मथ हूं। मैं तुम्हें पुकार रहा हूं।

पार्वती : चला जा यहां से। पति-पत्नी के एकान्त में मन्मथ क्यों आड़े आता है। भाग यहां से।

मन्मथ : मैं तुम्हें शंकर के पास ले जाने के लिए आया हूं।

पार्वती : (चौंककर आंखें खोल देती है।) ओ मां। सचमुच यह तो शिला है। देवी शिला, धन्य हो तुम। भ्रम में ही क्यों न हो, मैं तुम्हें ही महादेव समझ गई। भ्रम में ही क्यों न हो, तुमने मुझे महादेव के आलिंगन के सुख-जैसा ही सुख दिया। अपना यह भ्रम अब मैं संसार पर फेंक दूंगी और पूरी तरह साव-धान हो जाऊंगी। देवी शिला, संसार पर फेंके हुए इस भ्रम के कारण अब सारा संसार तुम्हें ही महादेव समझकर तुम्हारी पूजा करेगा। तुम अपने इस सम्मान का कुछ भाग मुझे भी दोगी न ?

मन्मथ : अब यह भ्रम छोड़ो और चलो, मूर्तिमान सत्य की ओर चलें।

पार्वती : मन्मन्थ सत्य की मूर्त्ति के चिंतन से उत्पन्न हुए भ्रम को दूर कर अब मूर्तिमान सत्य की ओर जाने के लिए कह रहे हो तुम ? यह भ्रम ही मुझे बड़ा मीठा लगा। यदि भ्रम इतना मीठा है तो

सत्य कितना मीठा होगा ?

मन्मथ : यह कौन कह सकता है ? भ्रम में जो मिठास होती है, वह सत्य में नहीं आ सकती। पर सत्य सत्य ही है और भ्रम भ्रम ही। इस-लिए मिठास का प्रश्न इस विषय में छोड़ देना ही अच्छा।

पार्वती : मिठास का प्रश्न यदि छोड़ दें, तो हृदय की तृप्ति कभी नहीं होगी। यह रसना का प्रश्न नहीं। रसना की तृप्ति हृदय तक नहीं पहुंचती। परंतु हृदय की तृप्ति नखशिखान्त सर्वांग को संतुष्ट कर देती है।

मन्मथ : ठीक है। तो हृदय की तृप्ति के लिए चलो, हम शंकर के पास ही चलें।

पार्वती : नहीं मन्मथ, मुझे भय लगता है। देव के कोप से मैं खूब परिचित हूं। मैंने उनकी जो अवज्ञा की है, उसका उन्हें स्मरण हो जायगा और उसके लिए जब वह मुझे धिक्कारेंगे, तो मुझे मरणांतक दुःख होगा। एक बार का मरण व्यर्थ होकर, नया जीवन भी मरणप्राय हो जायगा।

मन्मथ : अब जीना है या मरना, इसका अंतिम फैसला कर ही लेना चाहिए। पार्वती, मेरे पुष्प-बाणों पर पुनः एक बार विश्वास रखो और मेरे साथ शंकर का दर्शन करने चलो। (मायावती आती है)

माया : पार्वती, मन्मथ का पीछा तू अब छोड़ दे। तेरे नये अवतार के साथ ही मैं भी हिमालय पर रहने आ गई हूं। तो क्या मैं अपनी आंखों के सामने तेरा अकल्याण हुआ देखूं ? मन्मथ की बिचुआई से तेरा कल्याण कभी नहीं होगा।

मन्मथ : इस मन्मथ की बिचुआई से ही एक बार शिव-सती संयोग जो हुआ था !

माया : और इसी मन्मथ की बिचुआई से अंत में उनका बड़े विलक्षण ढंग से वियोग भी हुआ।

पार्वती : बोलो मन्मथ ! अब मौन क्यों हो ? तुम स्वीकार करते हो न कि तुम्हारी बिचुआई से ही इतने अनर्थ हुए ?

मन्मथ : मैंने जो भी किया सदिच्छा से प्रेरित होकर ही किया। उनके परिणाम यदि विपरीत ए, तो इसमें मेरा क्या अपराध ? तुम

वह अपराध मेरे मत्थे मढ़ रही हो, सो स्वाभाविक ही है। अपनी भूलों का परिणाम दूसरे के—यहां तक कि उपकार-कर्ता के भी मत्थे मढ़ देना मानव का स्वाभाविक धर्म है। मैं केवल इतना ही चाहता हूं कि पार्वती की शंकर से भेंट हो जाय। यह स्पष्ट दीखते हुए भी कि इसमें मेरा अपना कोई स्वार्थ नहीं, मेरे विषय में कोई कुशंकाएं करे, तो यह मेरा दुर्भाग्य है।

माया : अच्छा देखो, इस काम में मैं जैसा कहूं, वैसा तुम करोगे ?

मन्मथ : दूसरे की कार्य-पद्धति से काम करने का मुझे अभ्यास नहीं। अपनी पद्धति से कार्य करने में यदि मेरी हानि भी हो जाय, तो मुझे उसकी परवा नहीं। दक्षप्रजापति के सहवास में रहने के कारण यह सिद्धान्त मेरे रक्त के कण-कण में बिंध गया है।

पार्वती : पर इस सिद्धांत के परिणाम क्या हुए ? अंत में उसे अपने सर्वस्व से भी वंचित हो जाना पड़ा।

मन्मथ : मेरा भी सर्वस्व चला जाय, तो मुझे इसकी कोई चिन्ता नहीं। फिर मेरा सर्वस्व है ही क्या ? ये पांच बाण ही मेरे सब-कुछ हैं। वे किसी भी समय तुम्हारी सेवा में हाजिर हैं। इतना ही क्यों, यदि इस काम में मुझे अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़े, तो इसकी भी मुझे परवा नहीं। (स्वगत) इतने पर ही संतोष हो जाय तो काफी है।

पार्वती : मेरे लिए यदि तुम्हें कष्ट होते हों, तो यह मुझे कभी अच्छा न लगेगा। मैं स्वयं स्फूर्ति से जगत में उदय प्राप्त करने के लिए बाहर निकल पड़ी हूं। ऐसे समय मेरे लिए यदि दूसरे के प्राण जायं, तो यह मुझे कैसे अच्छा लगेगा ? जो होना हो सो हो जाय। परंतु मन्मथ, मैं ऐसा कोई काम नहीं करूंगी, जिसके कारण मेरे लिए तुम्हारे प्राण संकट में आ जाएं।

मन्मथ : मेरे प्राण कैसे संकट में आयेंगे ? पार्वती, मेरे इन बाणों को देखो—इन्हींपर मेरा सारा दारोमदार है। पहले एक बार तुम इनका प्रभाव देख चुकी हो। फिर ये व्यर्थ कैसे जायंगे ? उस समय महादेव ने ही बाण मारने की आज्ञा दी थी। उस पुरानी

आज्ञा से लाभ उठाकर, मैं तुम्हें अपने पीछे रखकर, उनपर ये बाण छोड़ूंगा। ज्योंही ये बाण उनके हृदय को आन्दोलित करें कि तुम तुरंत आगे बढ़कर उनके गले में वरमाला पहना देना। फिर उनके कोप से भय खाने का कोई कारण ही न रहेगा।

माया : किसी भी उपाय से शिव-पार्वती-संयोग हो जाय, यह मैं भी चाहती हूं। पर मन्मथ, महादेव के कोप की तुम्हें कल्पना है न!

मन्मथ : महादेव का कोप! हुं:। कहां का महादेव का कोप? उनके कोप से डरने के लिए मैं कोई दक्ष नहीं। और मुझपर आखिर वह कोप ही क्यों करेंगे? चलो, पार्वती। तुम इनकी एक न सुनो। अगर तुम शंकर को चाहती हो, तो यह पक्का ध्यान में रख लो कि इन प.च बाणों की सहायता के बिना वह तुम्हें कदापि न मिलेंगे।

माया : मन्मथ, उस नर-केसरी की गुफा में घुसने से पहले खूब सोच लेना।

मन्मथ : मुझे सोचने-वोचने की आदत ही नहीं।

रति : चलो—चलो, शंकर अभी-अभी ही समाधि-मग्न हुए हैं। इसी क्षण यदि हम न हुए, तो आगे अपना कार्य न होगा। चलो जल्दी। (रति जाती है।)

पार्वती : अच्छा बाबा, चलो। जैसी तुम लोगों की इच्छा। (पार्वती, रति और मन्मथ का प्रस्थान।)

माया : जाओ मन्मथ। तुम्हारी मृत्यु निकट आ गई है, इसमें संदेह नहीं। इस मूर्ख को यह नहीं मालूम कि शंकर पर शस्त्र उठानेवाला जीवित नहीं रह सकता। कुछ भी क्यों न हो। शायद होनहार यही हो कि मन्मथ की मृत्यु से ही शिव-पार्वती-विवाह होगा। सच भी तो है। मन्मथ के नाश के बाद यदि शिव-पार्वती-विवाह हुआ, तभी निष्काम प्रेम की सच्ची महिमा संसार को मालूम होगी। (जाती है।)

दृश्य तीन

(आसनस्थ शंकर)

शंकर : (स्वगत) सती के विरह से व्याकुल हुए मन को यदि जगत-कार्य में उलझाने का प्रयत्न करता हूं, तो उसी की प्रेममयी मूर्त्ति आंखों

के सामने मूर्त हो उठती है और मेरा उद्धार का आवेश उसी क्षण न जाने कहां विलुप्त हो जाता है। इस अज्ञात संसार में भटकनेवाली मेरी निर्जीव जीव-ज्योति उसीके स्नेह से प्रकाशित हुई थी। उसी प्रकाश में मैंने जग को देखना सीखा। उस जग में मुझे सर्वत्र सौन्दर्य दीखने लगा और यह ज्ञान होते ही कि उस सौन्दर्य का आधार सती ही है और उसीकी दृष्टि से मुझे जग सुन्दर दीख रहा है, उसीको जगत का केन्द्र मानकर, मैं उसकी आराधना करने लगा। पर उसके जाते ही मैं अब पहले जैसा ही भिखारी हो गया। उसके प्रेम के अभाव के कारण मुझे जगत का सारा ऐश्वर्य तुच्छ लगने लगा। पर यह सब किस कारण हुआ। सती! सती! मुझ पागल को यदि अनाथ ही करके रखना था, तो पहले अपने प्रेम के बंधन में तुमने मुझे बांधा ही क्यों? ऐश्वर्य से एकदम दरिद्रता में आने पर तुम्हें दरिद्रता दुःसह नहीं हुई। परंतु तुम्हारे प्रेम का ऐश्वर्य नष्ट होते ही मैं अवश्य अधिक दुखी भिखारी हो गया। क्या करूं। वियोग की यह ज्वाला कैसे सहन करूं? रे मन्मथ, यदि तू यह आग न लगाता, तो दरिद्रता के सार्वभौम जगत के सारे ऐश्वर्यशालियों से भी मैं अधिक सुखी रहता। रे चांडाल, हमारा यह सुख क्या तुझसे देखा नहीं गया? तू रति के साथ आनंद में रह रहा है और मैं शक्तिहीन होकर विधुरावस्था में दिन काट रहा हूं। विधुर की मानसिक यातनाओं को तू यदि समझता तो सती को कभी मायके न ले जाता—मेरे आनंद में कभी इस प्रकार विष न घोलता। अरे! अगर वह मन्मथ इस समय मेरे सामने आ जाय, तो इसी क्षण में उसे भस्म कर दूंगा। यह विधुरावस्था अब कैसे काटूं? यदि जगत के कल्याण का चिंतन करके हृदय की मूर्ति को भुला देने का प्रयत्न करता हूं तो सारा जगत ही सती-रूप दीखने लगता है। क्या सती के प्रेम में ही संसार की उत्पत्ति हुई है? नहीं, अब यह विचार ही नहीं करूंगा। इस विचार से विकार ही प्रबल होने लगता है। हे विश्वव्यापक नारायण, मेरी हृदयेश्वरी से क्या पुनः मेरी भेंट करा दोगे? जग

की ओर देखने लगता हूं, तो सती की स्मृति ही अधिक प्रबल हो जाती है। इससे अच्छा तो यह होगा कि आंखें बन्द कर लूं और अपनी हृदयेश्वरी को खोजने के लिए दृष्टि को हृदय की ओर मोड़ लूं। तभी आनंद प्राप्त होगा। (आंखें बन्द कर लेता है। मन्मथ रति और पार्वती प्रवेश करते हैं।)

मन्मथ : पार्वती, अब मेरे पीछे खड़ी हो जाओ। मैं बाण छोड़ने के लिए मौका देख रहा हूं। तुम ध्यान से देखती रहो और ज्योंही मैं बाण छोड़ूं, त्योंही तुम झट-से आगे बढ़कर शंकर के गले में अपनी यह माला पहना देना। (शृंगी, भृंगी और दक्ष प्रवेश करते हैं। मन्मथ, रति और पार्वती एक पेड़ की ओट में छिप जाते हैं।)

शृंगी : हां, दक्ष! आगे बढ़ो और महादेव को प्रणाम करो। क्या तुम उनसे डरते हो?

दक्ष : मैं डरपोक नहीं। यह मेरा मुकुट देखो। मुकुटधारी मनुष्य कभी किसीसे नहीं डरते—शत्रु के चरण छूने से भी नहीं डरते—समझे! मुझे डर लगता है—ऐसा नहीं कि न लगता हो। मुझे अपने आश्रितों का ही डर लगता है। क्या तुम हो मेरे आश्रित?

भृंगी : नहीं, मैं महादेव का गण हूं।

दक्ष : तो फिर मैं तुमसे बिल्कुल ही नहीं डरता। मैं अपनी कन्या से डरता हूं। क्या तुम हो मेरी कन्या?

भृंगी : आग लगे उस कन्या को। कन्या के कारण ही इतना अनर्थ हुआ। यदि कन्या शब्द ही मिट जाय तो क्या बात है?

दक्ष : तुम कन्या नहीं हो न! फिर तुम्हें यह सींग कहां से निकल पड़ा? क्या मन्मथ ने तुम्हें यह सींग लगा दिया? मनुष्यों को पशु बना देने में वह बड़ा सिद्धहस्त है। कहां है वह मन्मथ? उससे कह दो कि मुझे भी दो सींग लगा दे और इस भृंगी जैसी दाढ़ी भी, जिससे संसार कल से मुझे बकरा कहने लगेगा। फिर मैं चाहे जिस पेड़ की पत्तियां खाने के लिए स्वतंत्र हो जाऊंगा—मुझे किसीका भय न रहेगा। वह देखो, उस पेड़ की आड़ में देखो—वह मन्मथ आया आया—मुझे सींग और दाढ़ी लगाने के लिए वह मन्मथ आया।

दौड़ो-शंकर, महादेव दौड़ो, और इस मन्मथ से मेरी रक्षा करो—(शंकर के पीछे जाकर छिप जाता है)।]

शंकर : कौन? मन्मथ? चांडाल जलकर भस्म हो जा। (मन्मथ जल जाता है।) और यह कौन? यह भ्रम तो नहीं? या कि मैं अभी तक हृदय के भीतर ही देख रहा हूं।

पार्वती : (आगे बढ़कर माला पहना देती है।) हृदयेश्वर, मैं आपकी पहले की सती अब पार्वती होकर आई हूं।

शंकर : सात पग आगे चलकर इस शिला पर चढ़के तुमने मुझे माला पहनाई। पार्वती, सप्त स्वर्गों की सीढ़ियां पार करके आज तुम निश्चित ही इस निश्चल आसन पर विराजमान हो गई। मन्मथ का यह 'लज्जाहोम'[1] हमारा मंगल करे।

रति : देव, यह आपने क्या किया? विधुरावस्था का अनुभव होते हुए भी अंत में आपने मुझे विधवा बना दिया।

शंकर : उसने अपने कर्म का फल पाया।

रति : पर मैं अब क्या करूं? पार्वती की सखी को वैधव्य शोभा नहीं देता।

शंकर : तुम्हारा पति देहरहित अनंग होकर नित्य तुम्हारे साथ रहेगा। आगे यादव कुल में उसके देहधारी होने तक तुम शंकर के वर चिरकुमारी होकर रहो।

भृंगी : देव, यह देखिये दक्ष। इसीने आपको मन्मथ के आगमन की सूचना दी। आओ दक्ष, देव को प्रणाम करो। (दक्ष प्रणाम करता है।)

शंकर : इस आनंद के प्रसंग पर मैं तुम्हारी बुद्धि लौटा देता हूं दक्ष! कम-से-कम अब तो अहंकार छोड़कर जगत पर राज्य करो।

दक्ष : महारुद्र की कृपा से पावन हुआ यह दक्ष भविष्य में दरिद्र-नारायणों के एक सेवक के नाते ही प्रजा-पालन करेगा।

(प्रसूती और मायावती का प्रवेश)

माया : देखो प्रसूती, महादेव की कृपा से दक्ष शापमुक्त हो गया। और

---

१ विवाह में होने वाला एक कृत्य।

इधर देखो—यह है शिव-पार्वती-संयोग। मन्मथ को जलाकर रानी का पाणिग्रहण करने की सामर्थ्य रखनेवाले इस अद्वितीय पुरुष-सिंह को—इस नरकेसरी को देखो !

प्रसूती : शिव-पार्वती की जय हो।

शंकर : मायावती, इस स्थान में तुम्हारी कृपा से मुझे पार्वती प्राप्त हुई। हम इस स्थान को तुम्हारा ही नाम दे रहे हैं और हमारा आशीर्वाद है कि कलियुग में इस पुण्य-भूमि पर सन्यासियों के लिए अद्वैताश्रम की स्थापना होगी।

भृंगी : देव, आपने सबको तो वरदान दिये। पर मैं कोरा ही रह गया।

शंकर : बोल, मेरे भोले लड़के, तेरी क्या इच्छा है ?

भृंगी : मेरी बड़ी इच्छा है कि मेरे सिर पर मुकुट रहे, पर यह सींग रुकावट पैदा कर देता है। इस सींग को हटा दीजिए और यह आशीर्वाद दीजिए कि भविष्य में किसी भी मुकुटधारी पुरुष के सींग दिखाई न दें।

शंकर : तथास्तु !

माया : देवी पार्वती, मन्मथ को जलाकर तुम्हारा पाणि ग्रहण-करनेवाले नरकेसरी की पत्नी होने के कारण तुम्हीं सच्ची आदिमाता हो। देवी, शक्तिसंपन्न बालकों की माता होने के लिए पहले विघ्नहर्ता गणेश को जन्म दो। गणेशजननी बनो। यही मेरा तुम्हें आशीर्वाद है। तथास्तु !

(यवनिका गिरती है।)
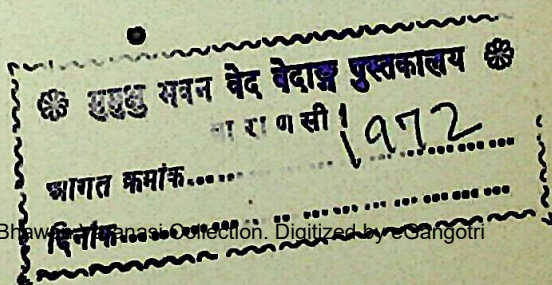
'मंडल' का

नाटक-एकांकी-साहित्य

१. शारदीया
२. नवप्रभात
३. कलवार की करतूत
४. अंधेरे में उजाला
५. रीढ़ की हड्डी
६. बरगद की छाया
७. नीली झील
८. मुरब्बी
९. आराम हराम है
१०. कुम्हार की बेटी
११. देवता
१२. भरत
१३. ईश्वर का मंदिर
१४. वसीयत